ॐ

श्री वीतरागाय नमः

श्रीमत्सकलकीर्ति आचार्य प्रणीत

श्री सुकुमाल चरित्र

सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रकाशकीय

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्माओं की दिव्यवाणी का प्रवाह चार अनुयोगों—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप में निबद्ध है। हमारे वीतरागी सन्तों और ज्ञानी-धर्मात्माओं की निष्कारण करुणा से प्रसूत दिव्यध्वनि के साररूप जिनवाणी हमें उपलब्ध है, यह हमारा अहो भाग्य है।

चार अनुयोगों में से प्रथमानुयोग हमारे पुराण पुरुषों की आत्मसाधना का परिचय प्रदान कर हमें बोधि समाधि की पावन प्रेरणा देता है। संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल और महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए भव्य जीवों को स्वभाव सन्मुखता की प्रेरणा ही इसका एकमात्र प्रयोजन है।

श्रीमद् सकलकीर्तिस्वामी द्वारा रचित यह सुकुमाल चरित्र एक ऐसे धीर-वीर महापुरुष की यशोगाथा है, जिन्होंने भोगी से योगी का अनूठा उदाहरण इस जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। साधना के अन्तिम चरण में भीषण उपसर्ग-परीषह भी जिनकी आराधना को क्षतिग्रस्त नहीं कर सके। इसी कथा ग्रन्थ में वर्णित सूर्यमित्र मुनिराज का कथानक पर्याय की क्रमबद्धता एवं तत्समय की योग्यता जैसे कल्याणकारी सिद्धान्तों का बोध प्रदान कर, पर्यायदृष्टि से जीव को विमुख करते हुए ध्रुव चैतन्य की मंगलमय आराधना की पावन प्रेरणा प्रदान करता है।

हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्तरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को महा पुरुषों के प्रति सहज ही अहोभाव उमड़ता था, जिसके प्रत्यक्ष दर्शन उनके प्रवचन एवं तत्त्वचर्चा में होते हैं। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर यह प्रस्तुत ग्रन्थ 'सुकुमाल चरित्र' लोकार्पित किया जा रहा है।

तदर्थ हम ग्रन्थकार श्रीमद् सकलकीर्तिस्वामी एवं पूज्य गुरुदेवश्री तथा बहिनश्री के प्रति अपना हार्दिक बहुमान हर्षपूर्वक व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल प्रकाशन श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल किशनगढ़ द्वारा बहुत वर्षों पूर्व किया गया था, जो अभी अनुपलब्ध है। इसी कारण यह संस्करण आवश्यक सम्पादन एवं भाषा शुद्धि के साथ उपलब्ध कराया जा रहा है। इस कार्य को पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियां-राजस्थान) ने साकार किया है।

सभी साधर्मीजन इस चरित्र ग्रन्थ का स्वाध्याय कर निज-हित साधन करें - यही भावना है।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

ॐ

श्रीमत्सकलकीर्ति आचार्य प्रणीत

❁ सुकुमाल चरित्र ❁

हिन्दी भाषानुवाद

प्रथम-सर्ग

❁ मंगलाचरण ❁

देव शास्त्र गुरु को प्रणमि, सब जग को सुखदाय।
श्री सुकुमालचरित्र की, हिन्दी लिखूं बनाय॥ 1॥

गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष—इस प्रकार पाँच कल्याणक जिनके हुए, जो नित्य और अनन्त गुणों के सागर और समस्त जगत के नाथ हैं—ऐसे महान वर्धमानस्वामी को मेरा नमस्कार है। तीन जगत की लक्ष्मी और सुख के खान धर्म को जिन्होंने प्रकाशित किया और जो आज भी चार प्रकार के संघों के द्वारा प्रवृत्तिरूप में आ रहा है एवं जो महान है। जिन्होंने अपने वचनरूपी किरणों से एकान्त मतों के अज्ञानरूपी जाल को हटाकर मुक्ति की प्राप्ति के लिये भव्य जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखला दिया। जो प्रति समय वृद्धिंगत होने से देवों के द्वारा वर्धमान नाम को प्राप्त हुए एवं जिन्होंने अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से वीर और महावीर, ये सार्थक नाम प्राप्त किये। सन्मार्ग का जनता को बोध कराने से

जिन्होंने सन्मति नाम भी प्राप्त कर लिया—ऐसे धर्म साम्राज्य के चक्रवर्ती और तीन जगत से पूज्य श्री वर्धमान भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

मैं उन आदिनाथ भगवान को भी नमस्कार करता हूँ जिन्होंने युग की आदि में मुग्धबुद्धि आर्यजनों को मोक्ष के लाभार्थ अपनी दिव्यध्वनि द्वारा स्वर्ग-मोक्ष के देनेवाले गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का उपदेश दिया और शुक्लध्यानरूपी तलवार से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय—इन चार घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

शेष अजितनाथादि पार्श्वनाथान्त 22 तीर्थंकरों के चरण-कमलों का भी उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं ध्यान करता हूँ, जो सम्पूर्ण भव्य जीवों के हितार्थ सदैव उद्यत रहे हैं, तीन जगत के नाथ भी जिनकी पूजा और वंदना करते हैं, अनन्त गुणों के समुद्र हैं, सारे जगत के मंगल करनेवाले, लोकोत्तम एवं संसार से डरे हुए भव्य जीवों को शरण देनेवाले हैं।

मैं उन सीमन्धरस्वामी आदि बीस तीर्थंकरों के चरण-कमल की अपने हृदय में स्थापना करता हूँ, जिन्होंने पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में भव्य जीवों को मोक्ष सुख के लिये सन्मार्ग का उपदेश दिया एवं मनुष्यों तथा पशुओं तक को सम्बोधा। ये सीमन्धर आदि 20 तीर्थंकर अनन्त गुणों के समुद्र हैं, अन्य जिनेन्द्र देवाधिदेव भी जो भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में हुए हैं और होंगे, उन सभी की मैं वन्दना और स्तुति, सार अर्थ की सिद्धि के लिये करता हूँ।

मैं उन अनन्त सिद्ध परमेष्ठियों को मन-वचन-काय की विशुद्धता से नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने महान ध्यानरूपी तलवार

से आठ कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर अष्ट गुणों से युक्त होकर मुक्ति-साम्राज्य प्राप्त किया, जिसको कि तीन लोक के स्वामी भी नमस्कार करते हैं और जो लोक के शिखर पर विराजते हैं।

मैं उन आचार्य परमेष्ठियों की वन्दना करता हूँ, जो संसार-समुद्र में जहाज के समान हैं, छत्तीस गुणों से युक्त और जो स्वयं पंचविध आचार को आचरते एवं अपने शिष्यवर्ग पर अनुग्रहार्थ उनसे आचरण कराते हैं। उन आचार्य परमेष्ठियों की वन्दनादि से ही अपने आचार की विशुद्धि होती है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिये मैं उन रत्नत्रयरूप धन के धनी उपाध्याय परमेष्ठियों के चरण कमलों की स्तुति करता हूँ, जो निर्वाणरूपी द्वीप की यात्रा के लिये बुद्धिरूपी जहाज पर बैठकर अंगपूर्वादि स्वरूप शास्त्र समुद्र के पारगामी होते हैं और अन्य योगीजनों को भी उसके पार तक पहुँचा देते हैं।

मैं सदैव अपने हित में लगे हुए उन समस्त साधु परमेष्ठियों को उन जैसे ही धैर्य की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ, जो महान कठोर तपस्या करते हैं, सदैव ध्यानाध्ययन में लीन रहते हुए मोक्ष लक्ष्मी की साधना में लगे रहते हैं, एवं जो पहाड़ों तथा उनकी गुफाओं या निर्जन वन में सिंह के समान निर्भय होकर रहते हैं।

ये पाँचों परमेष्ठी जगत में विद्वानों द्वारा वन्दनीय और स्तवन किये जाते हैं। अत: जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया है, उसमें मुझे अपने-अपने महान गुणों को प्रदान करें। महा कवि के गुणों से परिपूर्ण अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट इस प्रकार दोनों श्रुतज्ञानरूपी समुद्र के पारगामी श्री गौतमादि गणधरों का मैं उनकी सी बुद्धि की प्राप्ति के लिये ध्यान करता हूँ।

जिनेन्द्र देवाधिदेव के मुखारविन्द में निवास करनेवाली, जगत की माता सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को दिखलानेवाली, चारित्र के पालन कराने में प्रवीण भगवती सरस्वती की मैं स्तुति और वन्दना करता हूँ, जिसके महान प्रसाद से बुद्धि संस्कारयुक्त, निर्मल और कविता की रचना में समर्थ होती है।

तीर्थंकर भगवान द्वारा कहे हुए अंग, पूर्व और प्रकीर्ण को जिन प्रत्येक बुद्धिधारी श्रुतकेवली गणधरों ने धारण कर अर्थरूप से कहे, उन सब गणधरों को मेरा नमस्कार है। महान धीर, महान रूपवान, महान वीर्य पराक्रम के धारी, महान वैश्य कुल में उत्पन्न, महान लक्ष्मी से विभूषित, महामान्य शूरवीर बड़े-बड़े उपसर्गों के विजयी, महामुनि सुकुमाल स्वामी को उनकी-सी शक्ति प्राप्त करने के लिये मैं स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार महान मंगल के चाहनेवाले मैंने संसार के मंगल करनेवाले देव, शास्त्र और गुरुओं की वन्दना तथा स्तुति की है, सो यह जो मैंने कार्य प्रारम्भ किया है, उसकी सिद्धि के लिये समस्त विघ्नों का नाश कर, पापनाशन और पुण्यलाभरूप मंगल करें।

अथ कथामुख

इस प्रकार अपने तथा अन्य भव्य जीवों के अनिष्ट की शान्ति, इष्ट की प्राप्ति और शुभ कल्याण के लाभार्थ देव, शास्त्र और गुरु की वन्दना और स्तुति करके अनेक गुणों के समुद्र श्री सुकुमार (सुकुमाल) स्वामी के पवित्र चरित्र को मैं कहूँगा। ये सुकुमाल महामुनि वैश्यकुलरूपी आकाश में सूर्य के समान प्रकाश करनेवाले हुए हैं, जो फूल के समान अत्यन्त कोमल शरीरवाले सार्थक

सुकुमार नाम के होते हुए भी महान घोर उपसर्गों से वज्र के समान अभेद्य और कठोर थे। जैसे इन्द्र दिव्य भोगों का भोक्ता होता है, उसी प्रकार ये सुख समुद्र में मग्न होते हुए भी सम्पूर्ण क्षुधादि परीषहों के योगी के समान विजेता थे। तप के प्रभाव से जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग विमान को प्राप्त किया, उन सुकुमालस्वामी का मैं चरित्र कहूँगा। इसी चरित्र से श्री सूर्यमित्र महामुनि ने जो सिद्धान्त ग्रन्थों का पठनादि किया, उसका फल भी कहूँगा। इसी चरित्र के अन्तर्गत अग्निभूति आदि योगी महात्माओं की भी बहुत सी उत्तम कथाएँ आवेंगी, जिन्हें भी मैं कहूँगा।

इस प्रकार अनेक महापुरुषों के सच्चरित्रों से भरे हुए इस सुकुमाल चरित्र के पढ़ने और सुनने से हृदय में संवेगादि भावों की वृद्धि होगी। श्रुताभ्यास आदि की भावना और प्रवृत्ति होगी। तब सुन्दर कृतियों से राग-द्वेषादि दोष नष्ट हो जाएँगे; इसलिए प्रत्येक अपने हित चाहनेवाले मनुष्य का कर्तव्य है कि मुझ द्वारा कहे हुए इस चरित्र को अवश्यमेव सुनें।

अथ कथा प्रारम्भ

देवों तथा उत्तमोत्तम मनुष्यों से परिपूर्ण, एक लाख योजन विस्तारवाला, लवणसमुद्र से वेष्टित, असंख्य द्वीप राशि के मध्यवर्ती जम्बूवृक्ष से चिह्नित; नदी, पर्वत, देश, नगर, ग्राम आदि से सुशोभित, राजाओं के समूह में चक्रवर्ती के समान जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीप में एक लाख योजन ऊँचा, समस्त मेरुओं (पर्वतों) में सुन्दर, अनेक जिनमन्दिरों से सुशोभित सुदर्शन मेरु है। यह मेरु अनेक देवों, अप्सराओं, विद्याधरों और ध्यानस्थ चारणऋद्धिधारी मुनियों से शोभायमान है और ऐसा लगता है जैसे देवों में इन्द्र लगे। इस सुदर्शन मेरु के दक्षिण दिशा भाग में पाँच सौ छब्बीस योजन और छह अंश विस्तारवाला, विद्याधरों देवों तथा भूमिगोचरी राजाओं से वेष्टित धर्म और चारित्र की खान, धर्मात्मा और धर्मायतनों से पूर्ण भरतक्षेत्र शोभायमान है। इसी भरतक्षेत्र के मध्य भाग में आर्य खण्ड है, जो अरहन्त भगवान, चक्रवर्तियों आदि से सुशोभित, स्वर्ग और मोक्ष को साधन करनेवाले महात्माओं के निमित्तकारणस्वरूप, एक असाधारण धर्म की खान के समान, धर्म प्रवृत्ति से विभूषित और आर्य लोगों का निवास स्थान है। इसी आर्यखण्ड के नाभि के समान मध्य में नगर, पत्तन, खेट, पर्वत, ग्राम और वनोपवन आदि से पूरित, दानी, धर्मात्मा, चतुर, विद्वान सब प्रकार के श्रावक, मुनिराज आदि सज्जनों से परिपूर्ण अंग नामक देश सुशोभित हो रहा है। उस अंग देश में धर्मात्मा विद्वानों द्वारा सुशोभित, ऊँचे-ऊँचे कोट प्रतोली, खाई आदि से अयोध्याय के समान दानवीरों, योद्धाओं, जिनमें बड़े-बड़े महोत्सव हों, ऐसे जिनमंदिरों से सुसज्जित चम्पा नामक नगरी है।

इस चम्पानगरी की जनता के पुण्य से प्रतापवान, धर्मात्मा, विवेकी, चतुर और सच्चरित्र चन्द्रवाहन नामक राजा था, जिसके प्राणों से भी प्यारी, समस्त पुण्यशाली लक्षणों से सुशोभित, लक्ष्मी के समान श्रेष्ठ लक्ष्मीमती नामक रानी थी। इस राजा के यहाँ नागशर्मा नामक पुरोहित था, जो कुशास्त्रों का ज्ञाता, क्रूर हृदय, जैनधर्म का द्रोही, महान मिथ्यादृष्टि था, जिसके रूपवती त्रिदेवी नामक स्त्री थी और इनके लक्ष्मी के समान सुन्दर नागश्री नामक पुत्री हुई। यह नागश्री विवेक, रूप और सुन्दरता, ज्ञान विज्ञान आदि गुणों से संयुक्त थी, जो देव कन्या के समान सुशोभित होती थी।

एक दिन यह नागश्री अनेक ब्राह्मण कन्याओं के साथ क्रीड़ा करती हुई नगर के बाहरवाले उद्यान में बने हुए नाग मन्दिर में मूढ़ बुद्धि से पुण्य-लाभ की कामना करती हुई नागों को पूजने चली गयी। उस उद्यान में उस नागश्री ने किसी पूर्व में बाँधे पुण्यकर्म के फल से पुण्य कर्म के कारण अनेक ऋद्धिधारी, विद्वान, महाज्ञानरूपी समुद्र के पारगामी, संसारी जीवों के कल्याण में तत्पर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तपरूप धनवाले, ध्यान और अध्ययन में लीन, प्रासुक (निर्जीव) स्थान पर बैठे हुए ऐसे सूर्यमित्र और अग्निभूति नाम के दो मुनिराजों को देखा। यह नागपूजा का कार्य समाप्त कर मुनि महाराजों के पास आ उनके चरण कमलों को भोलेपन से ही सिर से प्रणाम कर उनके निकट आ बैठी। श्री सूर्यमित्र मुनिराज ने अपने ज्ञान से उस नागश्री के पूर्व जन्म के वृत्तान्त एवं होनेवाली सद्गति को जानकर उसको सम्बोधन करने के लिये कहा—

हे पुत्री! स्वर्ग के कारणभूत गृहस्थ धर्म को तू धारण कर,

जिससे कि तू इस भव में भी सुख पावेगी और परलोक में भी तेरे महान अभ्युदय होगा क्योंकि धर्म से ही तीन लोक के सारे सुख मिलते हैं और धर्मात्माओं के सैंकड़ों मनोरथ अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं।

मद्य, माँस, मधु और पाँच उदम्बर फलों के त्याग से; जुआ, चोरी आदि सात व्यसनों के छोड़ने से; अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहप्रमाणाणुव्रत—इस प्रकार इन पाँच अणुव्रतों के धारण करने से गृहस्थ का धर्म बनता है। व्रती धर्मात्मा मरकर स्वर्ग में ही जाता है और अव्रती हिंसादि महापापों से नरकगति या पशुगति में रुलता है। इसलिए जो प्राणी अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अव्रती न रहकर, दुराचारों को छोड़कर उक्त व्रत ग्रहण करें। श्रेष्ठ आचरण का नाम ही वास्तव में धर्म है।

सूर्यमित्र मुनि महाराज के मुँह से यह उपदेश सुन नागश्री बोली कि हे स्वामिन्! वे कौन से व्रत हैं, जिन्हें सुख चाहनेवाले मानव पालते हैं? नागश्री का यह वाक्य सुनकर वे मुनिराज बोले कि हे पुत्री! तेरे कल्याण के लिये मैं उन व्रतों का स्वरूप बतलाता हूँ, जिसे तू सुन।

पहला अहिंसाणुव्रत तो यह है कि जितने भी त्रस जीव हैं, उनको अपने ही समान समझ, उनकी मन-वचन-काय से रक्षा करना। यह व्रत जगत का हित करनेवाला, अपने कल्याण का साधन, कीर्तिकारी, सम्पूर्ण व्रतों का मूल, समस्त श्रेष्ठ क्रियाओं का आचरण करानेवाला और संपूर्ण जीवों को अभयदान देनेवाला है, जिसे तू ग्रहण कर। इस व्रत की रक्षा के लिये मदिरा, माँस, शहद

और पाँच उदम्बर फलों को विष के समान समझकर बुद्धिमानों को छोड़ देना चाहिए। जो मनुष्य मदिरा आदि के सेवन में लम्पटी हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट हो जाने पर जीवों की रक्षा का विचार ही नहीं रहता।

जुआ खेलना, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन, माँस भक्षण और मदिरापान ये सात व्यसन भी पापों की खान और नरक का दरवाजा दिखलानेवाले हैं, इसलिए इनका भी बुद्धिमानों को त्याग कर देना चाहिए। व्यसनी लोगों के दया, सत्य आदि गुण कहाँ से आवें और दया सत्यादि के बिना व्रत और धर्म भी कहाँ से आवें ? अहिंसा अणुव्रत की रक्षा के लिये चाहे प्राण ही क्यों न निकल जावें, किन्तु धर्मात्माओं को जगत में निन्दनीय रात्रि भोजन कभी न करना चाहिए। जो रात्रि को भोजन करते हैं, वे नियम से त्रस जीवों का भक्षण करेंगे तो माँस भक्षण नाम का पाप लगेगा। त्रस जीवों की हिंसा के बिना माँस बनता ही नहीं। शृंगवेरादि (नीम के फूल आदि) तथा कन्दमूलादि अनन्त जीवों से व्याप्त होते हैं; इसलिए दयालु प्राणी इन पदार्थों का सेवन औषधि में भी न करे और न इनसे बनी औषधियाँ ही सेवन करनी चाहिए। दया धर्म की प्राप्ति के लिये आचार मुरब्बे, बेर आदि फल, तथा लूनिया घी (मक्खन) जिसमें कि ढेरों कीड़े रहते हैं, नहीं खाना चाहिए। बिना छना हुआ जल कभी न पीना चाहिए क्योंकि अनछने पानी में स्थूल और सूक्ष्म जीव भरे रहते हैं। अनछना पानी पीना अशुभ करनेवाला है। इस प्रकार अन्य भी और फल जिनमें कि जीवराशि रहती है, कभी नहीं खाना चाहिए, तभी सबसे पहला अहिंसाणुव्रत पलता है।

सदैव सत्य, हित, मधुर प्रामाणिक और धर्म का बढ़ानेवाला

वचन ही बोलना चाहिए। जिसकी भले आदमी निन्दा करें और असत्य हो, ऐसा वचन कभी नहीं बोलना चाहिए। सत्य वचन बोलने से ही धर्म और यश रहता है, लक्ष्मी बनी रहती है। वचन की सत्यता और प्रामाणिकता से ही विवेक और बुद्धि रहती है। मिथ्याभाषणरूप पाप के फल से कुमरण, मूर्खता, अपयश, अविश्वास, जिह्वाच्छेद सरीखे अशुभफल असत्य भाषियों को मिलते हैं।

अचौर्य व्रत की रक्षा के लिये बिना दिये हुए, पड़े हुए, किसी के द्वारा खोये या भूले हुए परधन को सर्प के समान भयंकर समझकर नहीं लेना चाहिए। दूसरे के धन के अपहरण से मार, बन्धन आदि अशुभ फल इस लोक में और परलोक में दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं।

अपनी स्त्री के अलावा अन्य स्त्रियों को मन-वचन-काय की शुद्धि से माता-बहन के समान समझना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। व्यभिचारी लोग वध, बन्ध, त्रास, धनक्षय आदि दु:खों को यहाँ भी सहते हैं और अन्त में सातवें नरक तक जाते हैं।

क्षेत्र आदि दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण, परिग्रहप्रमाण व्रत की रक्षा के लिये करना चाहिए। परिग्रह के प्रमाण से ही लोभरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त होती है।

हे पुत्री! ये पाँच अणुव्रत दोनों लोकों के लिये कल्याणकारी हैं, इनसे यहाँ सुख और परलोक में स्वर्गादि सुख मिलता है, इसलिए तू इन्हें प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर। ये पाँच अणुव्रत सुख और गुणों के निधान हैं, इनको श्रेष्ठ आचरण के द्वारा जो पालते हैं, वे अच्युत स्वर्ग तक के सुख भोगकर मानवगति को प्राप्तकर रत्नत्रय धारी हो

मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार जान तथा मानकर स्वर्ग-मोक्ष सुख के करनेवाले जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे इन सारभूत व्रतों को पालना चाहिए। ये व्रत ही तीन लोक में सुख के दाता और धर्मरूप वृक्ष के मूल हैं। अपना हित चाहनेवाले प्राणियों को चाहिए कि चंचल और प्रतिसमय घटनेवाली आयु में एक क्षण भी इन व्रतों के बिना न जाने देवें।

अथ द्वितीय सर्ग

धर्मोपदेश के देनेवाले, तीन लोक के बन्धु समस्त योगीश्वरों को मैं वन्दन करता हूँ, वे मेरे व्रतों को उत्तम करें।

उस नागश्री कन्या ने मुनिराज के चरणकमलों को नमस्कार कर बड़ी श्रद्धा के साथ उपदेश से प्रभावित हो पाँचों अणुव्रत धारण कर लिये। भावी घटनाओं को जानकर अवधिज्ञान के बल से मुनिराज ने जब नागश्री व्रत लेकर जाने लगी, तब उसे यह शिक्षा दी कि बेटी! तेरा पिता तुझसे इन व्रतों को छुड़ाने का पूर्ण प्रयत्न करेगा परंतु तू देवों के भी दुर्लभ इन व्रतों को कभी मत छोड़ना क्योंकि व्रतों के आचरणरूपी धर्म से स्वर्ग और मोक्ष की सम्पदायें मिलती हैं और ख्याति कीर्ति आदि सब अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त हो जाते हैं। जो लोग व्रत लेकर उसका भंग करते हैं, वे नीच निन्दा के अलावा सैकड़ों संकट भोगते हुए परलोक में भी दुर्गति में ही रुलते पिलते हैं। इसलिए यदि तू अपने पिता के आग्रह से व्रतों को धारण करने में कदाचित् असमर्थ भी हो जाए तो तू मेरे इन व्रतों को मुझे आकर सौंप जाना। मुझे मेरे व्रत वापिस सौंपने के पहले इनको भंग मत करना।

नागश्री ने मुनिराज की यह शिक्षा सुनकर कहा कि हे जगत् के कल्याण करनेवाले तात! आपने जैसा कहा है, वैसा ही होगा। यह कहकर और मुनिराज को नमस्कार कर वह अपने घर चली गयी किन्तु नागश्री के साथ जो अन्य ब्राह्मणों की लड़कियाँ गयी थीं, उन्होंने पहले ही आकर नागश्री के पिता नागशर्मा पुरोहित से यह बात कह दी थी कि नागश्री ने दिगम्बर जैन साधुओं के चरणकमलों को नमस्कार कर उनसे कुछ जैनधर्म के व्रत ले लिये हैं। जब

नागशर्मा ने उनसे यह बात सुनी तो वह क्रोधरूप अग्नि से प्रज्वलित हो उठा और अपनी पुत्री नागश्री से दुर्वचनों के साथ कहा कि बेटी! तैंने भोलेपन से आज यह बहुत ही खोटा काम किया है, जो नग्नमुनि को नमस्कार किया तथा उनसे व्रत भी ले डाले। तुझे तो अपने कुल में चले आये वेद-पुराणों में कहे हुए यज्ञ कर्मादि धर्म को ही पालना चाहिए, जो कि ब्राह्मणों के लिये उचित हैं। जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ जीवदयामयी धर्म व्रतादि पालना ब्राह्मणों के श्रेष्ठ कुल में योग्य नहीं है; इसलिए तूने जो व्रत लिये हैं, इन्हें मेरे कहने से छोड़ दे। ये व्रत उनके लिये स्वर्ग मोक्ष के देनेवाले हैं, अपने लिये कभी नहीं।

नागश्री ने पिता के ये वचन सुनकर कहा कि पिताजी! लिये हुए व्रतों को तो दुर्बुद्धि लोग ही छोड़ते हैं क्योंकि व्रत लेकर छोड़ने से जगत में नीचता, निन्दा और महापाप होता है और परलोक में सदैव दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता है; इसलिए स्वर्ग-मोक्ष के करनेवाले इन अंगीकार किये हुए सारभूत व्रतों को मैं अपने कल्याण की दृष्टि से नहीं छोडूँगी।

उसके पिता नागशर्मा ने अपनी पुत्री का ऐसा वचन सुन क्रोध से प्रज्वलित हो कहा कि या तो इन व्रतों को तू छोड़ दे, अन्यथा मेरे घर से बाहर निकल जा।

नागश्री ने अपने पिता के इस दुराग्रह को जानकर चित्त में अत्यन्त दु:खी हो, कहा कि पिताजी! मेरी एक बात सुनिये, वह यह कि जब मैं व्रत लेकर आने लगी तो मुनिराज ने मुझसे कहा था कि जो ये व्रत मैंने तुझे दिये हैं, उन्हें तेरा पिता तुझसे छुड़ावेगा, यदि ऐसा ही हो तो जो व्रत तू मुझसे ले जा रही है, वे मुझे वापस सौंप

जाना। अत: यदि आप ये व्रत मुझसे छुड़ाना ही चाहते हैं तो उनके व्रत उन्हें वापस सौंप देने दीजिए।

पुत्री के ये वचन सुनकर पिता नागशर्मा ने कहा कि यह ठीक है, मुझे स्वीकार है। यह कहते हुए मुनिराज की वचनों से निन्दा करता हुआ पुत्री को साथ लेकर व्रतों को वापस कराने के लिये घर से स्वयं भी चल दिया।

जब पिता-पुत्री रास्ते में चल रहे थे तो रास्ते में राज्य के सिपाहियों द्वारा एक जवान पुरुष को फाँसी पर लटकाने के लिये ले जाते हुए देखा, वह जवान पुरुष हथकड़ी-बेड़ी में बँधा हुआ भी था। नागश्री ने अपने पिता से पूछा कि पिताजी! इसने ऐसा क्या अन्याय किया है जो इसे इस प्रकार बाँधकर ले जाया जा रहा है?

पिता ने कहा कि बेटी! मुझे मालूम नहीं कि क्या बात है? कोटपाल से पूछते हैं। पुत्री के साथ ही पिता ने कोटपालजी से पूछा कि कोटपालजी! इसे किस अपराध से कैद किया है? पूछने पर कोटपाल ने जवाब दिया कि चम्पानगरी में 19 करोड़ द्रव्य का मालिक देवदत्त नाम का साहूकार रहता था, जिसके समुद्रदत्ता नाम की सेठानी स्त्री और वसुदत्त नाम का एक ही लड़का था जो खूब जुआ खेला करता था। इस जुआ नामक व्यसन से अक्षधूर्त नामक जुआरी से जुआ खेली और जुए में एक लाख दीनार हार गया। अक्षधूर्त ने वसुदत्त से वह धन माँगा जो कि वह जीता था और धन शीघ्र चुका देने को कहा। इस पर मूर्ख पापी, निर्दयी, वसुदत्त ने क्रोध में अंधे होकर छुरी से अक्षधूर्त को मार डाला। जुआ और हिंसा आदि दोषों से दुष्टबुद्धि वसुदत्त को यहाँ के राजा ने फाँसी पर चढ़ाने और इसकी समस्त सम्पदा को छीन लेने का

दण्ड दिया है। इसलिए इसको फाँसी पर लटका देने के लिये ले जाया जा रहा है।

इस घटना को सुनकर नागश्री ने अपने पिता से कहा कि जिस हिंसारूपी कुकर्म से यहीं पर ऐसे दण्ड मिलते हैं तो मैंने तो संसार में सर्वोच्च पद का देनेवाला अहिंसाणुव्रत उन मुनिराज से लिया है, उसे कैसे छोड़ूँ? मेरा यह व्रत बहुत ही सारभूत और उत्तम है। अपनी बेटी नागश्री की यह बात सुनकर नागशर्मा ने कहा कि तूने जो इतने व्रत लिये हैं, उनमें से एक अहिंसाणुव्रत तो रहने दे, बाकी और व्रतों को उस मुनिराज के पास चल करके छोड़ दे, चल, अपन चलें।

वे दोनों जा रहे थे कि रास्ते में एक जगह ऐसा मनुष्य देखने में आया कि जो उल्टे मुँह तो लटक रहा था और उसके मुँह में काँटे लगे हुए थे तथा उसे पीटा जा रहा था। उस आदमी की ऐसी बुरी हालत देखकर नागश्री ने अपने पिता नागशर्मा से पूछा कि पिताजी! इस आदमी को इतना कष्ट क्यों दिया जा रहा है? पिताजी ने उत्तर दिया कि बेटी! इस ही चन्द्रवाहन राजा के ऊपर व्रजवीर्य राजा ने अपनी सेना के साथ उसके देश की हद के ऊपर खड़े होकर चढ़ाई करने के इरादे से उसके पास अपने चतुर दूत के द्वारा यह कहलाकर भेजा कि मेरे स्वामी ने यह कहा है कि आप मेरी सेवा स्वीकार करो जिसमें कि तुम्हारी भलाई है, यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते तो आपकी यह जो चम्पापुरी उत्तम नगरी है, उसे मेरे स्वामी को दे दो। दूत की यह बात चम्पापुर के राजा चन्द्रवाहन ने कहा कि यहाँ से चला जा और सामर्थ्य हो तो युद्ध के लिये सामने आजा, मैं आज ही तेरे स्वामी की समस्त शक्ति देखने के लिये खड़ा हूँ। यह

कहकर उसे विदा कर बहुत बड़ी सेना के साथ बल नाम के सेनापति को उससे मुकाबले के लिये स्वयं भेज दिया। बल नामक सेनापति ने भी बड़ी भारी सेना के साथ राजा की आज्ञा से जाकर कायर लोगों को डरा देनेवाला युद्ध उस राजा के साथ छेड़ दिया, जब उन दोनों के बीच महान युद्ध हुआ तो तक्षक नाम का जो राजा का अंगरक्षक था, वह मौत के डर से भागकर राजा के पास आया और यह मिथ्यावचन बोला कि हे राजन्! वज्रवीर्य राजा ने तो आपकी सारे हाथी-घोड़े आदि सारी वस्तुएँ छीन ली हैं, बल नामक सेनापति को भी पकड़ लिया है। राजा चन्द्रवाहन तक्षक के ये वचन सुनकर अत्यन्त दु:खी और उदास हुआ किन्तु घटना सर्वथा इसके विपरीत थी। उधर बल नामक सेनापति अपने शत्रु वज्रवीर्य राजा को बाँधकर अपने साथ लेकर अपनी चम्पानगरी को चला। जब वह चम्पानगरी में प्रवेश करने लगा तो उसके आगमन के क्षोभ और आडम्बर से चन्द्रवाहन राजा ने यही समझा कि वज्रवीर्य ही आ रहा है—स्वयं तैयार हो गया। अपने किले की रक्षा के लिये बड़े-बड़े शूरवीर योद्धाओं को तैनात कर नगरी के दरवाजे बन्द करवा दिये और स्वयं राजा चन्द्रवाहन हाथी पर चढ़कर सामने खड़ा हो गया। बल सेनापति ने अपने स्वामी राजा की इस प्रकार की आकुलता जानकर स्वयं आगे आकर प्रगट होकर सभी दरवाजे खुलवाये, राजा चन्द्रवाहन को नमस्कार कर वज्रवीर्य राजा को जिसे कि बाँधकर पकड़कर लाया था, सामने पेश कर दिया। चन्द्रवाहन राजा ने प्रसन्न हो सेनापति को इनाम दिया, जिसे उसने बड़े आदर से स्वीकार किया। राजा चन्द्रवाहन ने वज्रवीर्य को भी छोड़ने की आज्ञा देकर अपने वचनों से उसे तृप्त कर उसके नगर को भिजवा दिया। वज्रवीर्य के अपने देश को चले

जाने पर सुखपूर्वक समय व्यतीत करते हुए राजा चन्द्रवाहन ने तक्षक नामक अंगरक्षक की कही असत्य वाणी को याद कर उसका दण्ड देने के लिये कोटपाल को आज्ञा दी है, सो हे पुत्री! कोटपाल इस तक्ष को यह महान दण्ड दे रहा है। इसने जिस मुँह से झूठ वचन कहे थे, उसी मुँह में इसके शूल (काँटे) चुभाये जा रहे हैं तथा और भी कठोर दण्ड दिया जा रहा है।

नागश्री ने अपने पिता नागशर्मा से यह सब बात सुनकर कहा कि—पिताजी! जिस झूठ के बोलने से यहीं इस प्रकार का दु:ख मिलता है तो परभव में तो न जाने क्या हो होगा? मैंने उन मुनिराजों से जो असत्य विरमण या सत्याणुव्रत लिया है, वह तो इज्जत रखनेवाला महान सुन्दर व्रत है, इसे कैसे छोडूँ! नागशर्मा ने स्वयं लज्जित होकर कहा कि बेटी! यह व्रत जो तूने लिया है, इसे भी रहने दे परंतु बाकी तो छोड़नेयोग्य ही हैं। अत: जल्दी-जल्दी चल। उस यति के पास चलकर इन बाकी व्रतों को छोड़कर आवें।

इस प्रकार वे व्रत छोड़ने तथा छुड़वाने जा रहे थे कि रास्ते में एक ऐसे मनुष्य को देखा जो शूल में लटकाये हुए ले जाया जा रहा था। उसे देखकर नागश्री के हृदय में करुणा आई और उसने अपने पिता से पूछा कि पिताजी! इस आदमी को किसलिए इस प्रकार दण्ड दिया जा रहा है? पिता ने उत्तर दिया कि पुत्री! मुझे तो मालूम नहीं है, कोटपाल से पूछना पड़ेगा। पुत्री के आग्रह से नागशर्मा ने कोटपाल से पूछा कि इस मनुष्य ने क्या अपराध किया है, जिससे आप इसे ऐसा दण्ड दे रहे हैं?

इस प्रकार पूछने पर कोटपाल ने कहा कि इसी नगरी में एक वसुदत्त नाम का महान धनी बड़ा सेठ है। जिसके वसुमती नाम की

स्त्री और उनके वसुकान्ता नाम की रूपवती पुत्री थी। एक दिन उसे सर्प खा गया और जब वह विष से मूर्छित हो गयी तो उसे मरी हुई जानकर सब घर के लोग श्मशान ले गये और जलाने के लिये चिता पर रखी तो उसी समय उसके पुण्योदय से अनेक देशों में घूमता-फिरता एक गरुड़नाभि नामक गारुडी रूपवान वणिक्पुत्र (व्यापारी) आ पहुँचा। उसने चिता पर पड़ी हुई उस रूपवती कन्या को देखकर कहा कि यदि आप इसे मेरे साथ विवाहित करने का वचन दें तो मैं इसे जीवित कर सकता हूँ। उसके स्वरूप को विचारकर अर्थात् यह भी वैश्य ही है और इसके साथ विवाह का अधिकार भी रखता है, शीघ्र ही वसुकान्ता के पिता वसुदत्त ने कहा कि मेरी पुत्री को शीघ्रता से जीवित कर दो, मैं तुम्हारे साथ इसका विवाह कर दूँगा। तब उसने कहा कि मैं इस रात को तो नहीं किन्तु प्रात:काल होते ही इसे निर्विष करके जीवित कर दूँगा। आप रातभर इसकी रक्षा करो। वसुदत्त सेठ ने उसकी चिता के चारों कोनों पर एक-एक हजार दीनारों को एक-एक कपड़े में बाँधकर रख दिया और चार शूरवीर मनुष्यों को चिता की रक्षा करने के लिये आदेश दिया, साथ यह भी कहा कि मैं इस निर्जन श्मशान में इस रात्रि के समय इसकी रक्षा करने के उपलक्ष्य में तुमकों एक-एक हजार दीनार दूँगा। ऐसा कहकर लड़की के सब परिवारीजन अपने-अपने घर चले गये और वे चारों शूरवीर धन के लोभ से चिता के चारों ओर पहरा देते रहे। रात बीत जाने पर प्रात:काल होते ही उस गरुडविद्या के जाननेवाले व्यापारी वैश्य ने मन्त्र शक्ति द्वारा वसुकान्ता को निर्विष करके जीवित कर दी।

वसुदत्त सेठ को पुत्री के जीवित हो जाने पर बहुत हर्ष हुआ और उसने अपने पूर्व वचनों के अनुसार विधिपूर्वक विवाह के

साथ उस वसुकान्ता को उस गारुड़ी व्यापारी के साथ ब्याह दी। वे जो चार पोटलियाँ (गाँठें) एक-एक हजार दीनार की उस चिता के साथ रखी थी, उनमें से एक नहीं मिली, तीन ही मिली। तब वसुदत्त ने कहा कि इन चारों में से एक ने तो एक गाँठ एक हजार दीनार की ले ही ली, बाकी तीन गाँठों को तुममें से तीन व्यक्ति ले लो। तब वे चारों ही कहने लगे कि मैंने वह गाँठ नहीं ली, मैंने वह गाँठ नहीं ली। तब वसुदत्त सेठ ने नगरी के राजा से जाकर निवेदन किया कि महाराज! मेरी हजार दीनारें चोरी हो गई हैं, सो पता लगाकर चोर से दिलाइये।

राजा ने उसी समय चण्डकीर्ति नामक कोटपाल से कहा कि दुरात्मन्! एक हजार दीनार जो चोरी गई हैं, चोर से दिलाइये अन्यथा तुम्हारा मस्तक काट लिया जायेगा। चण्डकीर्ति ने कहा कि महाराज पाँच दिन के भीतर-भीतर माल सहित चोर का पता लगाकर न ला दूँ तो जो भी आप चाहें मेरा कर सकते हैं। राजा ने कोटपाल की यह बात सुन पाँच दिन की मोहलत दे दी। चण्डकीर्ति को चोर का पता लगाने की बड़ी भारी चिन्ता हुई। वह उन चारों शूरवीरों को अपने साथ लेकर घर चला गया। इस चण्डकीर्ति कोटपाल की सुमति नाम की अत्यन्त चतुर पुत्री रूपवती वेश्या थी, उसने अपने पिता को चिन्ता में मग्न देखकर पूछा कि पिताजी! आप चित्त में चिन्तित दिखते हैं, सो मुझे चिन्ता का कारण बतलावें तो मैं उसे दूर करने का प्रयत्न कर सकती हूँ।

चण्डकीर्ति कोटपाल ने पुत्री से कहा कि इन चारों में से किसी ने एक हजार दीनार की गाँठ चुराई है परन्तु ये सब इनकार करते हैं। राजा ने कहा है कि सच्चे चोर का पता न लगा तो तुम्हारा मस्तकछेद होगा तो मुझे बड़ी भारी चिन्ता है।

वेश्या पुत्री ने पिता की बात सुनकर कहा कि पिताजी ! आप चिन्ता न कीजिये—मैं आज ही पता लगाकर आपको चोर बतला दूँगी। चण्डकीर्ति ने उन चारों शूरवीरों को भोजनादि कराकर कहा कि पाँच रात तक तुमको यहीं ठहरना होगा। यह कहकर अपने घर के एक स्थान पर उनके सोने, बैठने, रहने का प्रबन्ध कर चण्डकीर्ति उनसे भेद लेने को बातचीत करने लगा।

चण्डकीर्ति की पुत्री सुमति वेश्या ने अनुक्रम से एक-एक को बुलाकर अपनी गद्दी पर बैठाकर कटाक्षों द्वारा अनेक प्रकार के काम विकार के निमित्त बनाती हुई कहने लगी कि मैं तुम चारों में से एक पर आसक्त हो सकती हूँ, परन्तु मेरे हृदय में एक बड़ा भारी प्रश्न और विकल्प यह है कि तुम चारों शूरवीरों के होते हुए, तुम्हारे द्वारा पहरा लगते हुए चोर एक हजार दीनार की गाँठ कैसे उठा ले गया ? तुम चारों ही व्यक्ति वहाँ क्या कर रहे थे ? इस बात को जानने की मेरी बड़ी उत्कण्ठा है।

वेश्या पुत्री की बात सुनकर उनमें से एक बोला कि सुमते ! मैं तो रात्रि के पहले भाग में ही वेश्या के यहाँ चला गया और वहाँ से रात के पश्चिम भाग में वहाँ आ गया। दूसरा बोला कि मैं भी इसके पीछे-पीछे ही चला गया और एक मींढा चुराकर लाया, मेरे पीछे घटना कैसे हुई, वह मुझे ज्ञात नहीं। तीसरा बोला कि मैं तो माँस के लिये मींढे को रांधने लग गया था, सो मुझे मालूम नहीं। चौथे ने कहा कि मैंने तो चिता पर रखे हुए मुर्दे की तरफ आँख लगा रखी थी, मेरी दृष्टि इन दीनारों की गाँठों पर बिल्कुल न थी। इन चारों पहरेदारों (चौकीदारों) की ये बातें सुनकर सुमति वेश्या असली चोर का पता लगाने में संशययुक्त ही रही और अपनी प्रयोजन

सिद्धि के लिये तत्पर कुटिल आशय धूर्त वेश्या ने उनसे कहा कि आप लोगों का दोष प्रतीत नहीं होता और अब नेत्रों में आलस्य भी आने लगा है, इसलिए आलस्य को मिटाने के लिये एक कोई कहानी कहिये। वे चौकीदार बोले कि हम कोई कहानी नहीं जानते, आप ही कहिये, तब वह वेश्या बोली कि—मैं कहती हूँ—तुम सुनो!

पाटलिपुत्र (पटना) नगर में धनदत्त नामक वैश्य रहता था, जिसके सुदामा नाम की पुत्री थी! एक दिन वह अपने महल के पश्चिम भाग में उद्यानवाले तालाब में पाँच धोने के लिये चली गयी, सो मगरमच्छ ने उसका एक पाँव पकड़ लिया, वह बड़ी दु:खी हुई। उसी समय उसने अपने जीजा धनदेव को कहा कि जीजाजी! मुझे मगरमच्छ ने पकड़ लिया है, सो मुझे जल्दी छुड़ाइये! हँसी में धनदेव बोला कि—तू मेरा कहना माने तो मैं तुझे छुड़ा लूँ। तब उस सुदामा ने कहा कि आप क्या कहते हैं, सो कहिये—तब वह बोला कि जिस दिन तेरा विवाह लग्न हो, उस दिन सबसे पहली रात में तू मेरे पास समस्त वस्त्राभूषणसहित आने का वचन दे। सुदामा ने कहा कि मुझे स्वीकार है। धनदेव ने उसका दाहिना हाथ जोर से खींचकर उस मच्छ से उसे छुड़ा लिया। वह संकट से उस समय छूट गयी। थोड़े दिनों बाद उसका विवाह हो गया। उसे प्रतिज्ञा पूरी करनी थी; अत: वह समस्त वस्त्राभूषण से सुसज्जित उसी विवाह की रात को धनदेव की दुकान पर जाने को अपने घर से निकल पड़ी। वह रास्ते में जा ही रही थी कि उसे एक चोर मिल गया और उस चोर ने कहा कि तेरे पास जितने वस्त्राभूषण हैं, सो मुझे दे दे। सुदामा ने कहा कि इन वस्त्राभूषणों के साथ मुझे एक जगह जाना है, सो वहाँ जाकर मैं वापस लौटने पर तुझे दे दूँगी,

इससे अन्यथा न होगा। वह उस चोर को यह वचन दे आगे बढ़ी, चोर भी उसके पीछे-पीछे कौतुक से ऐसे चला जैसे उसे दीख न सके। थोड़ी दूर जाने पर उस सुदामा को एक राक्षस मिल गया और बोला कि तू तेरे इष्टदेव का स्मरण कर क्योंकि मैं तुझे निगलूँगा। वह बोली कि मेरी एक जगह जाने की प्रतिज्ञा है, सो मैं वहाँ जा रही हूँ, मैं जब वापस लौटूँ, तब जो भी तेरी इच्छा हो सो कर लेना। इस प्रकार उसे भी वचन दे आगे बढ़ी, वह राक्षस भी छिपकर उसके पीछे रास्ते में लग कर चलने लगा। थोड़ी दूर जाने पर कोटपाल मिल गया, उस द्वारा भी रोकने पर इसी प्रकार धर्मवचन देकर वह सत्यवादिनी वचन में दृढ़ता रखनेवाली आगे बढ़ी और निर्विघ्न अपने जीजा धनदेव की दुकान पर जो वचन दिया था, उसे छुड़ाने के लिये जा पहुँची। ऐसी रात्रि के समय उस अकेली को आती देखकर विद्वान चतुर और परनारी से परांगमुख धनदेव ने उस अपनी छोटी साली सुदामा से कहा कि मुग्धे! ऐसी अँधेरी रात में इस समय क्यों आई? तू मेरी जो साली है, सो मेरी लड़की ही है, मेरे तो परस्त्री बहिन-बेटी के समान है। जिस समय तुझे तालाब में मच्छ ने पकड़ा था और तूने छुड़ाने को कहा था, उस समय जो भी मैंने कहा था, वह हँसी में ही कहा था, सत्यरूप से नहीं। मेरी ओर से ऐसा वचन कैसे कहा जा सकता था? जो परनारी में आसक्त होते हैं, वे पापी, पाप से मारपीट, बन्धन सर्वस्वहरणादि दुःख पाते हैं और अन्त में नरक जाते हैं; इसलिए तू अपने स्थान को जा। इस प्रकार अपने वचनों से छूटी हुई उस पुराने मार्ग में जिससे कि आयी थी, रवाना हो गयी। रास्ते में तीन जो चोर, राक्षस और कोटपाल मिले थे, उन्होंने उसका सत्य देखकर उसे कहा कि तू महान सत्यवती है और हमारी माता के समान है; इसलिए हम

तुझे छोड़ते हैं। इस प्रकार वह सबसे छूटकर अपने घर चली गयी। —वेश्या ने इस प्रकार यह कहानी उन चौकीदारों को कहकर पूछा कि बतलाओ, इन चारों में कौन सा अच्छा है ? तब मींढे के चोर ने तो चोर की प्रशंसा की और माँस पकानेवाले ने राक्षस की प्रशंसा की, मुर्दे की रक्षा करनेवाले ने कोटपाल की प्रशंसा की और वेश्यापति ने धनदेव की प्रशंसा की। इस प्रकार इन चारों में प्रत्येक के अभिप्राय को जान सुमति वेश्या ने इनकी इस बातचीत से ही असली चोर का पता लगा लिया और चित्त में हर्षित हो उनको उनके स्थान पर भेजकर अपने पलंग पर सो गयी। दूसरे दिन जिस मींढा चुरानेवाले चोर चौकीदार ने रास्ते में मिले हुए चोर की प्रशंसा की थी, उसे बुलाकर अपने पलंग पर बिठलाया और उससे कहा कि मैं तुम पर आसक्त हुई हूँ परन्तु मेरा पिता यह नहीं चाहता कि मैं किसी एक के साथ रहूँ; इसलिए मैं चाहती हूँ कि अपन किसी दूसरी जगह चले चलें। उसने भी इस बात की स्वीकारता दी, तब सुमति वेश्या बोली कि बाहर कहीं अपन दोनों के चलने में धन की जरूरत है, मेरे पास तो इतना धन है जो कि देख इस गाँठ में बँधा हुआ है परन्तु तुम्हारे पास भी कुछ है या नहीं ? तब वह वेश्या में आसक्त होने से सुध-बुध भूलकर बोला कि मेरे पास भी है और उसने उसी एक हजार दीनारवाली गाँठ को बतलाया। वेश्या ने उससे वह गाँठ ले ली और कहा कि अब तुम अपने स्थान में जहाँ सोते हो चले जाओ, अपन अपने दोनों के आनंद के लिये प्रात:काल देशान्तर को चलेंगे, यह कहकर उसने तो विदा दे दी और वह धन की गाँठ अपने पिता को सौंप दी और चोर का पता लगा दिया। कोटपाल ने उस चोर और माल को ले जाकर राजा के सामने पेश कर दिया—सो राजा ने उस चोर को यह दण्ड दिया है।

पाप से भयभीत हुई नागश्री ने यह बात सुनकर अपने पिता नागशर्मा से कहा कि पिताजी! जिस चोरी से वध, बन्धन, धन नाश, कुलक्षय आदि ऐसे महान दण्ड मिलते हैं, उससे अलग होने का अर्थात् बिना दी हुई वस्तु के लेने के त्यागस्वरूप जो अचौर्य अणुव्रत है, वही मैंने योगिराज से लिया है। वह बहुत ही हितकारी है, उसे कैसे छोड़ूँ? तब उस नागश्री के पिता ने कहा कि इस अचौर्य अणुव्रत को भी रहने दे परन्तु और जो व्रत हैं, उनको तो उसके पास चलकर छोड़ देवें, अत: चल।

इस प्रकार जीव हिंसा, असत्य वचन और चोरी से जिन-जिन लोगों ने अनेक कष्ट, अपकीर्ति और सर्वस्व हरणादि दण्ड पाये, उनको नागश्री ने अपनी आँखों से देखकर दु:खों से भयभीत हो व्रतों में अधिक तत्पर हो गयी। इसलिए बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि अपने हित के लिये सदैव व्रतों का पालन करते ही रहें। विद्वानों से वन्दनीय, स्वर्ग-मोक्ष के सिद्ध करनेवाले वे मुनिराज धन्य हैं, जो तीन लोक को संसार सागर से तैराने में चतुर हैं और जो स्वयं संसार के पार चले गये हैं—वे महामुनि धन्य हैं, जिनका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अतुल और निर्मल है, जो भव्यजीवों को कल्याण के लिये अणुव्रत व महाव्रत दिया करते हैं।

तृतीय सर्ग

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप और धर्मरूप रत्नों के देनेवाले तपोधन मुनिराजों को स्वर्ग-मोक्षरूप सुख की प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

नागश्री अपने पिता के साथ-साथ जा रही थी कि मार्ग में अत्यन्त दु:खी, पुरुष के मस्तक से बँधे हुए कंठवाली, नाक, कान कटी हुई एक स्त्री को एक जगह देखकर अपने पिता से पूछने लगी कि इसने ऐसा कौन सा अपराध किया है, जिससे इसकी ऐसी दुर्गति हुई है। नागश्री के पिता नागशर्मा ने कहा कि इसी चम्पानगर में एक मनस्य नाम का वैश्य, उसके जैनी नामक स्त्री और उसके नन्द, सुनन्द नाम के दो पुत्र हैं। जैनी नामक वैश्य सेठ की स्त्री का सूरसेन नामक भाई है, जिसके 'मदग्ली' नाम की पुत्री है। एक दिन मनस्य सेठ का पुत्र 'नन्द' द्वीपान्तर जा रहा था। जाते हुए उसने अपने मामा सूरसेन से कहा कि हे मामा! मैं बहुत दूर द्वीपान्तर को जाऊँगा, सो तुम्हारी रूपवती जो पुत्री है, उसे मुझे दे दो, यदि तुम दूसरे को दे दोगे तो तुमको राजा की दुहाई है। तब सूरसेन ने कहा कि तुम काल की मर्यादा करके देशान्तर को जाओ। नन्द ने बारह वर्ष की अवधि में वापस आने को कहकर देशान्तर के लिये गमन किया। जब नन्द काल की मर्यादा बीत जाने के बाद छह महीने और व्यतीत हो जाने पर भी न आया तो उसने अपनी पुत्री उसके छोटे भाई अर्थात् मनस्य सेठ के छोटे पुत्र सुनन्द को देने का संकल्प कर लिया। बड़े ठाठ बाट के साथ दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ हुई, विवाह मण्डप सजाये गये। जब लग्न में केवल पाँच दिन रह गये तो 'नन्द' भी द्वीपान्तर से आ गया। नन्द

को सारा वृत्तान्त मालूम हुआ तो उसने कन्यापक्ष के लोगों से कहा कि जब आपने अपनी पुत्री मेरे छोटे भाई को देने का संकल्प किया है तो छोटे भाई की पत्नी हो जाने के कारण वह मेरी पुत्री के समान है। छोटे भाई सुनन्द ने कहा कि जब सूरसेन इस कन्या को मेरे बड़े भाई को दे चुका था तो बड़ी भौजाई होने के कारण अब यह मेरी माता के बराबर है। इस तरह उस कन्या के साथ दोनों ही ने विवाह नहीं किया और वह कन्या अवस्था में ही अपने पिता के घर में ही युवती हो गयी। उसके पिता अर्थात् सूरसेन सेठ के घर के पास ही दूसरे मकान में एक दुष्टबुद्धि नागचन्द्र नाम का वैश्य रहता था। जिसके बारह स्त्रियाँ थीं और बारह करोड़ धन का वह पुण्ययोग से धनी भी था परन्तु वह पापी और व्यभिचारी था, इसलिए सूरसेन की पुत्री में आसक्त हो गया। थोड़े दिनों बाद उन दोनों का वह पापकार्य प्रगट भी हो गया। सो ठीक ही है कि पाप कभी छिपाये छिपता नहीं, वह तो फूटता ही है। इन दोनों की व्यभिचार कथा जनता की जवान पर आ गयी तो भी यह दोनों व्यभिचार में तत्पर ही रहे। नगर के कोटपाल ने यह बात सुनी और परीक्षा के बाद इन दोनों अनाचारियों को कैद कर लिया। राजा की आज्ञा से इनको वध, बन्धन, अंगछेदक आदि प्राणनाशक दण्ड दिया जा रहा है।

अपने पिता के मुख से नागश्री ने यह सब सुनकर कहा कि पिताजी! शीलव्रत के बिना ऐसे-ऐसे महान दु:ख भोगने पड़ते हैं। मैंने उन महात्मा से कलंकरहित और जगत में पूज्य-ऐसा शीलव्रत लिया है, वह तो महान कल्याणकारी है, इसलिए उसे कैसे छोड़ूँ? तब पिता नागशर्मा ने कहा कि इस व्रत को भी तू रहने दे परन्तु बाकी जो और हैं, उन्हें तो चलकर छोड़ दे। इस प्रकार वे दोनों आगे जाने लगे।

आगे जाते हुए मार्ग में उस नागश्री ने सिपाहियों द्वारा मारने के लिये ले जाते हुए एक पुरुष को देखकर पूछा कि पिताजी इस व्यक्ति को क्यों बाँध रखा है और किस अतिनिन्दनीय पापकर्म से इसकी ऐसी दुर्गति हो रही है ? नागशर्मा ने कहा कि यह वीरपूर्ण नाम का पुरुष है, जो क्षीर भोजन ही करता है और महान लोभी है। यह राजा की अश्वशाला की रक्षा पर नियुक्त था। इस अश्वशाला में बहुत सा घास था, जिसे चरने के लिये एक गाय-बैलों का झुण्ड घुस गया। उसने राजा के सामने जब इसे उपस्थित किया तो राजा ने उसे ही वह सारा झुण्ड दे दिया, सो वह और भी अति लोभी हो गया और कहने लगा कि इस देश में जितना भी अच्छा गोधन है, वह सब मुझे दे दिया है—यह कहता हुआ उसने सब लोगों के गाय-बैल आदि छीन लिये। रानी के यहाँ जो भैंसें आदि थीं, वे भी सब इसने मँगा लीं। रानी ने क्रोधित हो उसका सारा हाल राजा से कह दिया कि यह महान लोभी इस प्रकार की कुचेष्टा कर रहा है। राजा चन्द्रवाहन ने अत्यन्त क्रोधित हो इस पापी को महान लोभजनित पाप के कारण शीघ्र ही मार डालने की आज्ञा दी है, इसीलिए इसे मारने को ले जाया जा रहा है।

नागश्री ने अपने पिता से यह बात सुनकर कहा कि पिताजी ! जिस महान परिग्रह से इस प्रकार का महान दु:ख लोभीजन भोगते हैं, तो मैंने जो मुनिराज के निकट परिग्रह का प्रमाण किया है, वह तो बहुत ही लाभकारी है, सो उसे प्राणान्त हो जाने पर भी छोड़ना ठीक नहीं।

नागशर्मा ने अपनी पुत्री से कहा कि बेटी ! यह व्रत तो ठीक है तू रख ले, किन्तु उस यति को शीघ्र जाकर फटकारना तो चाहिए;

इसलिए उस दिगम्बर यति की भर्त्सना के लिये अपन अवश्य वहाँ चलेंगे। यह कहकर उस स्थान पर वे जा पहुँचे, जहाँ वे मुनिराज विराजमान थे। दूर से ही खड़े रहकर उसने मुनिराज को कठोर और निन्दनीय वचन कहना प्रारम्भ किया और कहा कि हे दिगम्बर! तुमने मेरी पुत्री को जो ये पाँच प्रकार के व्रत दिये हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के द्वारा कहे हुए शास्त्र के विपरीत हैं, सो किस प्रकार दे दिये? यह ब्राह्मण की लड़की है, उसके लिये ये तुम्हारे द्वारा दिये हुए व्रत सर्वथा अयोग्य हैं, तुमको वेद शास्त्र का भी विचार करना चाहिए।

यह सुनकर भविष्य के ज्ञाता योगीराज ने मधुर स्वर से द्विजातियों के हितार्थ कहा कि मैंने मेरी ही पुत्री को ये पाँच व्रत जो कि धर्म के बीज और दया के मूल हैं, दिये हैं, इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ गया?

मुनिराज के ये वचन सुन क्रोध से ज्वलित हो नागशर्मा ने कहा कि नागश्री तुम्हारी पुत्री कैसे हो सकती है?

मुनिराज ने उत्तर दिया कि द्विज! यह नागश्री अवश्यमेव मेरी पुत्री है, इसमें कोई सन्देह नहीं, मैं असत्य नहीं बोलता हूँ।

नागश्री साम्यभाव धारण कर व्रतों के पालने में तत्पर हो मुनिराज के चरणकमलों को प्रणाम कर उनके निकट बैठ गयी। नागशर्मा ने अत्यन्त क्रोध से शीघ्र ही राजा को जाकर प्रार्थना की और पुकारते हुए कहा कि महाराज! एक दिगम्बर जैन साधु मेरी नागश्री पुत्री को अपनी पुत्री बतलाकर असत्य तथा बलपूर्वक मुझसे छीन रहा है। नागशर्मा पुरोहित ने जो कहा वह सर्वथा असम्भव बात थी, इसलिए सभी राजा की सभा के सदस्यों को हृदय में महान आश्चर्य हुआ। विचार करने में महान चतुर राजा ने बड़े

आश्चर्य में पड़कर अपने हृदय में सोचा कि चाहे सुमेरु पर्वत चलायमान हो जाए, चाहे अग्नि शीतल हो जए, किंतु योगीजन कभी झूठ नहीं बोलते। जिन निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं ने सम्पूर्ण परिग्रह तक का त्याग कर दिया, उनको मिथ्या भाषण से क्या प्रयोजन ? किन्तु यह बात भी जगत में प्रसिद्ध है कि नागश्री नागशर्मा ब्राह्मण की ही पुत्री है। ऐसी अवस्था में कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर राजा चन्द्रवाहन अनेक लोगों के साथ सन्देह को दूर करने के लिये मुनिराज के निकट गया। कितने ही लोग तो मुनिवन्दना के लिये धर्म सेवनार्थ उस उपवन को गये और कितने ही इस आश्चर्यकारी विवाद को सुनने के लिये और कितने ही तमाशा देखने के लिये भी उस उपवन में जा पहुँचे। वहाँ चन्द्रमा के समान निर्मल, अनेक जनों द्वारा पूजित, विद्वान्, प्रासुक भूमि पर बैठे हुए श्री सूर्यमित्र मुनिराज को देख उस महाव्रती धीर-वीर को नमस्कार किया और बैठकर उस बुद्धिमान राजा ने मीठे वचनों द्वारा मुनिराज से प्रश्न किया कि स्वामिन्! चाहे समुद्र अपनी मर्यादा को लांघ दे, कुलाचल पर्वतों के साथ सारी पृथ्वी उलट-पुलट हो जाए अथवा कोई भी कुछ हो जाए परन्तु सत्य महाव्रतधारी मुनिराजों के मुख से निकले वचन कभी अन्यथा नहीं होते, यह बात मैं हृदय में अच्छी तरह जानता हुआ भी चित्त में उत्पन्न हुए सन्देह के दूर करने के लिये कुछ आपसे पूछना चाहता हूँ और वह यह है कि यह नागश्री जो आपके चरणों के निकट ही बैठी है, वह किसकी पुत्री है ?

मुनिराज ने उत्तर दिया कि इतने बैठे हुए विद्वज्जनों के बीच मैं सत्य कहता हूँ कि यह मेरी पुत्री है।

मुनिराज के यह वचन सुनकर नागशर्मा ने लाल आँखें करके कहा कि राजन्! अत्यन्त भक्तिपूर्वक नाग देवता की आराधना और पूजा के फल से आप ही के नगर में मैंने अपनी भार्या से यह पुत्री प्राप्त की है। क्या ये अन्य बैठे हुए नगर-निवासी इस बात को नहीं जानते हैं? यह साधु तो ब्रह्मचारी हैं, इसके पुत्री का क्या काम? इसलिए आप इस बात के निर्णय करने में मन लगावें और उपस्थित जन समुदाय भी विचार करे।

मुनिराज बोले कि राजन्! यदि यह इसी की कन्या है तो क्या इसने इसे व्याकरणादि शास्त्र पढ़ाया है? क्योंकि पठन-पाठन और शास्त्रज्ञान से ही अज्ञान की हानि होती है।

नागशर्मा ने इसके बाद कहा कि मैंने तो अभी तक कुछ भी नहीं पढ़ाया। तब योगीराज बोले कि तब तुम्हारी पुत्री यह कैसे हो गयी? फिर नागशर्मा बोला कि यदि आपने इसे पढ़ाया है तो बतलाइये क्या पढ़ाया है? तब फिर योगीराज बोले कि मैंने अनेक शास्त्ररूपी समुद्र के पार तक इसे पहुँचा दिया है और मेरे इस कथन में रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। योगीराज के वचन सुनकर सब लोग अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये। राजा चन्द्रवाहन ने भी आश्चर्यसहित हो मुनिराज को नमस्कार कर फिर कहा कि स्वामिन्! यदि आपने इस नागश्री कन्या को पढ़ाया है तो शास्त्र पठन की परीक्षा दिलवाइये, जिससे कि मालूम पड़े?

राजा की यह बात सुनकर योगीराज ने अपनी अद्भुत वाणी से कहा कि राजन! इसी समय इसके द्वारा समस्त शास्त्रों की परीक्षा दिलाता हूँ। मुनिराज ने भरी सभा में जिसमें कि बड़े-बड़े विद्वान भी उपस्थित थे, कन्या नागश्री के मस्तक पर दाहिना हाथ रखकर

अपनी दिव्य वाणी से कहा—वायुभूते! मुझ सूर्यमित्र ने राजगृह नामक नगर में जो बहुत से शास्त्र पढ़ाये थे, उन सारे शास्त्रों की विद्वानों और राजा को इस समय परीक्षा दो, जिससे कि सबका सन्देह दूर हो जाए। इतना कहते ही नागश्री अपनी दिव्य वाणी से सरस्वती की तरह अनेक शास्त्रों का पाठ करने लगी और जो भी कोई विद्वान उससे कुछ प्रश्न करता था, उसका युक्ति-प्रमाणपूर्वक ठीक-ठीक उत्तर देने लगी। इस शास्त्र परीक्षा से राजा तथा समस्त उपस्थित विद्वानों को उस समय बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। तत्पश्चात् चन्द्रवाहन राजा ने मुनिराज को नमस्कार करके कहा कि स्वामिन्! यह नागश्री आपकी ही पुत्री है, इस ब्राह्मण की नहीं है परन्तु मेरे तथा इन उपस्थित अन्य लोगों के हृदय में भी एक सन्देह अवश्य है कि आपने नागश्री से तो परीक्षा दिलाई और नागश्री को 'वायुभूति' कहकर सम्बोधन किया, सो क्या कारण? इसमें सभी को बड़ा भारी आश्चर्य है।

राजा के इस प्रश्न पर सूर्यमित्र मुनिराज ने उत्तर दिया कि राजन्! पूर्वभव में यह जो इस समय नागश्री है, सो वायुभूति ही था। यह सुनकर राजा को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और मस्तक से मुनिराज को नमस्कार कर सविनय कहा कि भगवन्! कृपा करके नागश्री और वायुभूति के पूर्व भवों का अपनी वाणी से वर्णन करें। राजा के इस प्रश्न से भव्य जीवों के कल्याणार्थ अनुग्रहपूर्वक योगीराज बोले कि राजन्! अन्य उपस्थित भव्यजीवों के साथ अपने मन को वशीभूत करके वैराग्यभाव को पैदा करनेवाली नागश्री की कथा मैं कहता हूँ, सो सब लोग सुनें। वायुभूति का तथा हमारा पूर्वजन्मों का सम्बन्ध तथा भवान्तर हुए और उनमें जो-जो

पुण्य-पाप किये और उनके द्वारा जो-जो फल हुआ, उस सबका वर्णन मैं करता हूँ। महान् पाप के कमाने से इस नागश्री ने जो-जो क्लेशकारक दुर्गतियाँ प्राप्त कीं और जिस पुण्य के लेश से यह इस ब्राह्मण की पुत्री हुई, यह सब भी मैं कह रहा हूँ, सो सारे सत्पुरुष सुनें। अनन्त गुणों के समुद्र, धर्मतत्त्व प्रकाश करने के लिये दीपक के समान, व्रतरूप आभूषणवाले, स्वर्ग-मोक्षादि के कारण, मानव और देवों से पूज्य, कर्म शत्रुओं से दूर और महान ऐसे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ।

चतुर्थ सर्ग

मैं ग्रन्थकर्ता अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।

इसी भरतक्षेत्र के वत्सदेश में कौशाम्बी नामक नगरी है, वहाँ अतिबल राजा राज्य करता था। उसके मनोहरी नाम की प्रिय पट्टरानी थी और सोमशर्मा नाम का शास्त्रज्ञाता ब्राह्मण पुरोहित था। सोमशर्मा के काश्यपी नामक स्त्री थी, इनके दो पुत्र थे, बड़ा अग्निभूति और छोटा वायुभूति। इन दोनों पुत्रों को बाल्यकाल में खूब लडाया, खिलाया, पिलाया, पिता ने इनको पढ़ाने का प्रयत्न भी खूब किया परन्तु ये पढ़े ही नहीं। पाप के उदय से इन दोनों का पिता सोमशर्मा मर गया। राजा ने अज्ञान से इन दोनों मूर्खों को ही पुरोहित पद दे दिया। ये दोनों ब्राह्मण पुत्र सुखपूर्वक रहते हुए कामभोग सुखों में आसक्त हो गये, शास्त्रज्ञान से तो वे रहित थे ही।

उन्हीं दिना बहुत देशों में भ्रमण करते-करते न्यायशास्त्र सम्बन्धी विवाद से अनेक वादी विद्वानों का अभिमान चूर करनेवाले विजयजिह्व नाम के एक विद्वान् ने राजा के महल पर यह सूचनापत्र चिपका दिया कि जो राजपुरोहित हो, मुझसे विवाद करे। राजपुरोहित के सिवाय दूसरे को विवाद करने का अधिकार नहीं। इस सूचनापत्र से अन्य विद्वानों ने तो वादपत्र लिया नहीं, तब राजा अतिबल ने इन दोनों भाईयों को बुलाकर यह आज्ञा दी कि तुम यह वादपत्र लो और विजयजिह्व वादी से शास्त्रार्थ करो। उन दोनों मूर्ख ब्राह्मण पुत्रों ने उस वादपत्र को लेकर फाड़ डाला। तब राजा अतिबल ने उनको महामूर्ख समझकर पुरोहित पद से अलग कर दिया और सोमिल नामक दूसरे ब्राह्मण को राजपुरोहित का पद दे दिया। वे दोनों

मानभंग से हृदय में बड़े दु:खी हुए, आजीविका नष्ट हो जाने से विचारने और कहने लगे कि हमको हमारे पिता ने पढ़ाने का बड़ा भारी प्रयत्न किया था परन्तु हम इतने मन्दभागी रहे कि पढ़ न सके, अत्यन्त मूर्ख ही रह गये और कुमार्गगामी भी हो गये। ज्ञानरूपी नेत्र के बिना धर्म-कुधर्म की परीक्षा नहीं हो सकती। इस लोक में मान्यता नहीं हो सकती, तब परलोक में तो कल्याण कैसे हो ? जिन्होंने संसार के तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाला गुरु के पास ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त नहीं किया, वे शिक्षा हितोपदेश आदि कुछ नहीं मानते, वे दुर्बुद्धि होते हैं और उनके दोनों भव बिगड़ जाते हैं। ज्ञान से ही स्वच्छ कीर्ति होती है और ज्ञान से ही सम्पूर्ण ऋद्धियाँ एवं भव्यजीवों का कल्याणकारी केवलज्ञान भी होता है। यह विचार कर वे दोनों श्रुतज्ञान प्राप्त करने को अत्यन्त उत्सुक हो गये और शीघ्र ही देशान्तर जाकर पढ़ने का दृढ़ निश्चय किया।

इन दोनों की माता काश्यपी इनकी अपने कल्याण के लिये शिक्षाभ्यास के प्रति अत्यन्त उत्सुकता देख बोली कि पुत्रों! राजगृहनगर में सुबल नाम का राजा और उसके सुप्रभा नामक स्त्री है, उनके जो सूर्यमित्र नाम का पुरोहित है, वह मेरा भाई है, जो ज्ञान -विज्ञान से सम्पन्न और विद्वानों में शिरोमणि है, वह तुम्हारा मामा होता है, सो तुम्हारा हितैषी है। यदि तुम्हारी शास्त्राभ्यास के लिये वास्तव में ही इच्छा है तो तुमको उसके पास शीघ्र जाकर पढ़ना प्रारम्भ कर देना चाहिए। अपनी माता की बात सुन वे दोनों विद्या के इच्छुक राजगृहनगर जा पहुँचे और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ सूर्यमित्र को नमस्कार कर बोले कि मामा! हमें हमारे पिताजी ने पढ़ाने का बड़ा भारी प्रयत्न किया परन्तु हम मूर्ख ही रहे, खेलकूद में लगे रहने से

कुछ भी न पढ़ सके। पिता के मर जाने पर हमारा पद राजा ने दूसरे को दे दिया। अब हमको हमारी माता ने आपके पास पढ़ने को भेजा है, आप ही हमारा हित करनेवाले हैं। आप हमें पढ़ाइये, जिससे हम शास्त्रज्ञ होकर अपने खोये हुए पद को फिर से प्राप्त कर सकें।

विद्वान सूर्यमित्र पुरोहित ने अपने हृदय में सोचा कि लाड-चाव के कारण ये पिता से न पढ़ सके, यदि मैं भी इनको अच्छा भोजन दूँगा तो ये खिलाड़ी हो जाएँगे, जिससे न ये कुछ पढ़ सकेंगे और न इनकी कार्यसिद्धि ही हो सकेगी। यह विचार सूर्यमित्र ने कहा कि जब मेरे कोई बहिन ही नहीं है तो तुम भानजे कहाँ से आये ? मेरा तुमसे कोई सम्बन्ध मामा-भानजेपन का नहीं है तो भी तुम अन्य ब्राह्मणों के घर से भिक्षा माँगकर भोजन करते रहोगे और पढ़ते रहोगे तो मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा, अन्यथा नहीं। उन्होंने सूर्यमित्र विद्वान की इस बात को स्वीकार कर पढ़ना प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में प्रमादरहित हो परमादर से अनेक शास्त्र पढ़ गये और महाविद्वान बन गये। जब वे अनेक शास्त्रों के पारगामी हो गये और अपने घर लौटने लगे तो सूर्यमित्र विद्वान ने उनको वस्त्रादिक देकर विदा करते समय कहा कि मैं तुम्हारा हितैषी मामा ही हूँ। यदि मैं भी तुम्हारे पिता की तरह यहाँ भी लाड़-प्यार करके अपने घर में ही भोजनादि कराता तो तुम कभी न पढ़ते; इसलिए मैंने तुमसे कह दिया था कि मैं तुम्हारा मामा नहीं हूँ और तुम्हारे हित के लिये ही इस प्रकार तुमको दरिद्रतापूर्वक रख भिक्षा भोजन कराके पढ़ाया है। मामा सूर्यमित्र की यह बात सुन अग्निभूति ने उसकी प्रशंसा की और कहा कि आप हमारे पिता ही हो, आपने जो किया है, वह सब हित और पथ्य ही है, आपने हमारा जन्म सफल कर दिया

और ज्ञानदान से आजीविका का उपाय भी कर दिया। विद्या और धर्म के दान से बड़ा दूसरा कोई दान नहीं है। ज्ञान और धर्म के दाता के अलावा कोई दूसरा दाता नहीं। जो विद्या और धर्म के दाता का उपकार नहीं मानते, वे मूर्ख और कृतघ्न होते हैं। कल्याण के कारणभूत उपकार का न मानना ही कृतघ्नता और मूर्खता है। ऐसे जो कृतघ्नी मूर्ख होते हैं, उन पापियों के पाप से सब पढ़ी हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है और वे यहाँ तो महामूर्ख होते ही हैं किन्तु परलोक में भी दुर्गति के पात्र होते हैं।

अग्निभूति ने तो इस प्रकार अपने विद्वान मामा का बड़ा भारी उपकार मानकर स्तुति की, किन्तु वायुभूति ने दुर्गति करनेवाली मामा की निन्दा करते हुए कहा कि तू हमारा कैसा मामा है ? तू तो महान निर्दय नीच और चाण्डाल के समान है, जो तूने हमसे भिक्षा भोजन कराया।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि ये दोनों सहोदर (एक ही माता के गर्भ से पैदा हुए) हैं परन्तु दोनों में ही कितना अन्तर है ? इस बात से ज्ञात होता है कि कर्मों की गति विचित्र है, जीवों के परिणामों की योग्यता भी विचित्र है। इसके बाद वे दोनों अपने नगर जाकर राजा के पास गये, राजा को आशीर्वाद दे अपनी बुद्धि से राजा को अपनी शास्त्र-कुशलता का परिचय दिया। राजा ने भी सन्मानपूर्वक उनको उनका पुराना पद दिया और वे सम्पत्तिशाली होकर सुखपूर्वक रहने लगे।

❀ ❀ ❀

इस कथा को यही रखकर—बीच में एक घटना और हुई, उसका अवलोकन करते हैं। जो इस प्रकार है। राजगृहनगर का

राजा सुबल बहुमूल्य रत्नों जड़ी हुई अँगूठी पहने हुए था। जब स्नान के पहले तेल-मर्दन कराने को तैयार हुआ तो रत्नों की आभा खराब न हो जावे, इसलिए अँगूठी खोलकर सूर्यमित्र विद्वान पुरोहित को सौंप दी। पुरोहित ने उसे अपनी अँगुली में पहन ली और घर चला गया, घर जाकर उसने सन्ध्यातर्पणादि ब्राह्मण कर्म कर जब राजा के दरबार में जाने की तैयारी की तो उसे हाथ की अँगुली में अँगूठी नहीं दिखायी दी, तब वह महान उदास हो गया। उसने परमबोध नामक विद्वान ज्योतिषी निमित्तज्ञानी को स्वयं बुलाकर पूछा कि मेरे हाथ जो सुवर्ण रत्नमयी अँगूठी गिर गयी है, वह मिलेगी या नहीं ? उस निमित्तज्ञानी ने उत्तर दिया कि मिल जाएगी। पश्चात् उसे उसने विदा कर दिया परन्तु उसकी चिन्ता इसलिए न गई कि उसे तो राजा को उसी समय अँगूठी वापस देनी थी। वह चिन्ता से व्याकुल हो अपने महल के ऊपर चला गया, उसने नगर के बाहर उपवन में जाते हुए बड़े संघ सहित, भव्य जीवों को सम्बोधनेवाले, तीन लोक के देवों से पूजित चरणवाले मति-श्रुत -अवधिज्ञान के धारी, जगत के हित करनेवाले, जगत से वंदित, जगत में श्रेष्ठ, जगत से स्तुत्य सुधर्म नामक आचार्य को देखा। उसने उन आचार्य को देखकर विचार किया यह ज्ञानवान साधु है, सो मेरी अँगूठी की बात को अवश्य ही जानता होगा; इसलिए एकान्त में इससे पूछना चाहिए। यह विचार काललब्धि से वह सूर्यास्त होने के समय से कुछ पहिले अँगूठी के विषय में पता लगाने के लिये आचार्य-संघ के निकट आया। ज्ञान, ऋद्धि आदि गुणों के सागर और अपने शरीर में भी नि:स्पृह, मोक्ष सिद्धि में इच्छावाले योगी को देखकर भी लज्जा और अभिमान से प्रश्न

करने में असमर्थ होता हुआ भी अपने कार्य की सिद्धि के लिये आसपास चक्कर काटने लगा।

अवधिज्ञान के योग से परोपकारी सुधर्माचार्य ने उसे निकट भव्य जान कहा कि—हे सूर्यमित्र! राजा की अँगूठी को अपनी अँगुली से गिराकर चिन्तित हो क्या तू यहाँ मेरे पास अपनी चिन्ता मिटाने आया है? सूर्यमित्र पुरोहित ने अपनी मानसिक चिन्ता और सम्पूर्ण बात जानकर परम आश्चर्यान्वित हो, योगीराज से कहा कि 'हाँ'! सूर्यमित्र ने मुनिराज को नमस्कार कर पूछा कि स्वामिन्! जहाँ वह अँगूठी गिरी है, वहाँ का पता बतलाइये।

तीन ज्ञानरूपी नेत्रवाले योगीराज ने उत्तर दिया कि विद्वन्! तुम्हारे महल के पीछे उद्यानवाले तालाब में जब तुम सूर्य को अर्घ दे रहे थे, तब तुम्हारे हाथ की अँगुली से अँगूठी निकलकर सरोवरवाले कमल की कली में गिर गयी और अदृश्य होकर अभी तक वहीं मौजूद है, सो तुम उसके लिये चिन्ता छोड़ दो और मेरे वचनों में निश्चय करो।

पुरोहित विद्वान् ने यह सुन वहाँ जाकर उसे देखा तो उसे वह ऐसी ही मिली और अँगूठी राजा को सौंपकर हृदय में बड़ा भारी आश्चर्य किया और विचारा कि यह समस्त ज्ञानियों में श्रेष्ठ, सारे विश्व को प्रत्यक्ष जाननेवाला, अनुपम ज्ञानी है। ऐसा निमित्तज्ञान सब निमित्तज्ञानों में सारभूत है। इसलिए इस योगीराज की आराधना कर यह प्राप्त करना चाहिए, जिससे मेरी सत्पुरुष विद्वानों में बड़ी प्रसिद्धि होगी, मान्यता होगी, बहुत ऐश्वर्य बढ़ेगा और उत्तम पद मिलेगा। इस प्रकार धनादि के लोभ के विचार से गुरु के निकट वह विद्या सीखने गया और उन योगियों के स्वामी को नमस्कार

कर हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि भगवन्! मुझ पर दया करके समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष दिखलानेवाली यह दुर्लभ विद्या मुझे भी प्रदान करने की कृपा कीजिए क्योंकि आप कृपानाथ हैं।

यह सुन ज्ञानी श्री मुनिराज ने कहा कि यह उत्कृष्ट विद्या निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर ज्ञानी के बिना किसी को भी प्राप्त नहीं होती, इसलिए यदि तुमको यह विद्या प्राप्त करनी है तो मेरे समान तुम भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनो।

ब्राह्मण विद्वान ने योगीराज की यह बात सुनकर अपने घर जा समस्त कुटुम्ब के लोगों को बुलाकर दिगम्बर भेष धारण करने का उनसे विचार प्रगट किया और कहा कि इस योगिराज के पास बड़ी अद्भुत विद्या है, जो निर्ग्रंथ दिगम्बर भेष धारण किये बिना वह किसी को देता नहीं; इसलिए उस विद्या की सिद्धि के लिये मैं निर्ग्रन्थ दिगम्बर बन जाता हूँ। मैं उचित युक्ति से इस विद्या को सीखकर काम बनाकर पीछे आ जाऊँगा, सो आप मेरे इस वियोग से जरा सा भी शोक मत करना। उसकी यह बात सुन कुटुम्ब-परिवार के लोगों ने भी उसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनकर विद्या सीखने की आज्ञा दे दी।

इस प्रकार वह सूर्यमित्र ब्राह्मण विद्वान विद्यालाभ के लिये मुनीश्वर के पास जाकर नमस्कार कर बोला कि भगवन्! मैंने स्वार्थसिद्धि के लिये यह निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण किया है, सो मुझे आप जल्दी से जल्दी वह विद्या दे दीजिए। भविष्य में होनेवाली घटनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञाता मुनिराज ने भी इससे बाह्य परिग्रह छुड़ाकर स्वर्ग-मोक्ष लक्ष्मी को वशीभूत करनेवाले सारभूत मूलगुणों को दे तीन लोक में कल्याण करनेवाली, जगत में वन्दनीय जैनदीक्षा उस

ब्राह्मण को दी। सूर्यमित्र ब्राह्मण विद्वान ने मुनि को नमस्कार कर प्रार्थना की कि भगवन्! वह विद्या अब मुझे दया करके दे दीजिए। तब मुनिराज ने कहा कि विद्वन्! क्रियाकलाप के पाठ और तप के बिना वह विद्या सिद्ध नहीं होती। तब उस विद्वान ब्राह्मण ने बड़े भारी उद्यम से बुद्धि लगाकर गुरु से चारों अनुयोगों का पढ़ना प्रारम्भ किया।

त्रेसठ शलाका पुरुषों के पूर्व भवादिक, सुख सामग्री, आयु, वैभव आदि का सूचक पुण्य-पाप का फल प्रकट करने के लिये सिद्धान्त और धर्म का कारण प्रथमानुयोग उसने पढ़ा। लोक-अलोक विभाग, उसका संस्थान, सात नरकों का दु:ख, स्वर्गादि के सुख, संसार की स्थिति का दीपक, ऐसा करणानुयोग उसने गुरु के मुख से पढ़ा। मुनिराजों और गृहस्थों के आचरण, महाव्रतों, अणुव्रतों, शीलव्रतों, इनके फलादि को बतलानेवाला चरणानुयोग योगीराज ने उसे पढ़ाया और छह द्रव्य, सात तत्त्व, पंच मिथ्यात्व, सत्यासत्यमतों की परीक्षा, प्रमाण नय आदि को बतलानेवाला द्रव्यानुयोग भी गुरु ने उसे पढ़ाया।

द्रव्यानुयोग शास्त्रों के पढ़ने से वह सूर्यमित्र ब्राह्मण विद्वान सम्यग्दृष्टि हो गया। अब उसके हृदय में हेयोपादेय का ज्ञान हो गया। तब उसने धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ तथा जैनधर्म, अन्यधर्म का भेद अपने निर्मल चित्त में अच्छी तरह जान, विचार किया कि जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकला जैनधर्म ही सार और महान है एवं स्वर्ग-मोक्ष का देनेवाला है। जैनमत को छोड़कर अन्यमत स्वार्थी लोगों द्वारा बनाये हुए ठीक नहीं हैं, जो अब सब मुझे विष के समान दीखते हैं। जैनधर्म को छोड़कर सब मत-मतान्तर हितकर

नहीं हैं। सम्पूर्ण जीव-अजीवादि पदार्थ तत्त्वयुक्त, महान सत्य हैं और दर्शन ज्ञान के कारण एवं सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रणीत हैं। मैंने कुमार्गगामियों द्वारा कहे हुए असत्य, अशुभ कुतत्त्वों को पढ़ने में वृथा ही इतना समय लगा दिया, जिसका खेद है। मति और श्रुत ये दो परोक्षज्ञान ही ऐसे हैं, जिनसे समस्त चराचर का ज्ञान हो जाता है। अवधिज्ञान तो यहाँ ऐसा है जिससे सारे जगत के रूपी पदार्थ तथा भवान्तर प्रत्यक्ष दीख जाते हैं। सूक्ष्म पदार्थों का दिखलानेवाला मन:पर्ययज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह तप से होता है और योगीराजों के ही होता है। घातिकर्मों के नाश से उत्पन्न होनेवाला, आत्मा में उत्पन्न, तीन जगत को देखने को दीपक के समान, विश्व का प्रत्यक्षदर्शी केवलज्ञान है। इस पाँच प्रकार के ज्ञान को जिससे कि जगत के पदार्थ स्पष्ट होते हैं, कोई भी विद्वान यहाँ किसी को भी नहीं दे सकता। ये ज्ञान तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से श्रेष्ठ योगियों के स्वयमेव ही होते हैं। मैंने अपने हित के लिए यह बहुत ही उत्तम कर्म किया जो कि ज्ञान के लोभ से संयम धारण कर लिया। जैसे कोई कन्दमूलादि ढूंढ़नेवाला जंगल में किसी बड़ी धरोहर को प्राप्त कर ले, वैसे ही ख्याति-लाभ-पूजा के लोभी मैंने यह निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन दीक्षारूपी धरोहर पा ली है। इन योगीराज ने भी मेरे हित की दृष्टि से ही जगत की कल्याणकारिणी यह दीक्षा मुझे दी है और मैंने ज्ञान की आशा से इसे प्राप्त कर ली। आज इस जैनदीक्षा से मैं कृतकृत्य होकर मोक्ष के मार्ग का पथिक बन गया और पापों से दूर हटकर पवित्र होता हुआ तीन जगत में पूज्य हो रहा हूँ। महाभाग्य के उदय से मैंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय यह बोधि प्राप्त की है, जो जिनशासन में ही प्राप्त हो सकती थी। भुक्ति-मुक्ति का देनेवाला एक यह निर्दोष जैनधर्म ही है। यही गुणों की

खान और जगत का स्वामी है, जिसे मैंने काललब्धि से पा लिया है। ये निर्ग्रन्थ गुरु ही दुस्तर संसार से स्वयं तिरने एवं अन्य लोगों को तैराने में समर्थ हैं, जिन्हें किसी पुण्य योग से धर्म बुद्धि द्वारा मैंने प्राप्त किये हैं। मिथ्यामार्ग में लगकर मैंने स्नान-तर्पणादि द्वारा संक्लेश को पाकर इतना समय वृथा ही गँवा दिया। जैनधर्म से पृथक् रहनेवाले ये मिथ्यादृष्टि कुमार्ग में रत होकर वृथा ही धर्म के लिये दुर्भाग्य से प्रयत्न करते हैं। मैं तो बड़ा भाग्यशाली हूँ, जो मोक्षमार्ग का बटोही बनकर मैंने जगत् में सार जिनशासन ग्रहण कर लिया। ज्योतिर्मण्डल में सूर्य; धातुओं में सुवर्ण; पत्थरों में चिन्तामणि रत्न; वृक्षों में कल्पवृक्ष; स्त्रियों में शीलवती नारी; धनियों में दाता; तपस्वियों में विद्वान सदाचारी जितेन्द्रिय तपस्वी बड़ा होता है; उसी प्रकार जितने भी धर्म संसार में कहलाते हैं, उनमें जिनेन्द्रदेव प्रणीत जैनधर्म ही महान और सेवनीय है और यही मार्ग उत्तम मार्ग है। जैसे गाय का सींग दुहने से दूध, सर्प के मुख से अमृत, अनाचार से कीर्ति और अभिमान से महत्व प्राप्त नहीं होता; उसी तरह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म और कुमार्ग से कभी श्रेष्ठ कल्याण की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार वह सूर्यमित्र पुरोहित विद्वान हस्तरेखा की तरह सम्पूर्ण हेयोपादेय को जानकर परम दृढ़ वैराग्य को प्राप्त हो गया। ज्ञान से जिनशासन और संयम में अनुक्त हो तपश्चरण और मुनिराज के आचरण को पालन करने में पूर्ण तत्पर हो गया। इस तरह वह सूर्यमित्र गुणों के समूह से बढ़कर मुनि होता हुआ यशस्वी हो मोक्षगामी बन गया।

हे भव्य जीवो! इसलिए प्रयत्नपूर्वक सम्पूर्ण शास्त्रों का अध्ययन

करो, जिससे तीन जगत में पूज्यता प्राप्त होती है। यह सम्यग्ज्ञान ही पाप को दूर करनेवाला शुभ घर है। ज्ञानवान ज्ञान को ही प्राप्त करते रहते हैं। ज्ञान से ही मुक्तिवधू दीखती है। इसलिए सम्यग्ज्ञान को नमस्कार है। ज्ञान के बराबर बढ़िया नेत्र नहीं। ज्ञान का फल मोक्ष है, इसीलिए मैं ज्ञान में चित्त लगाता हूँ; सो हे ज्ञान! मुझे ज्ञानी बना।

पंचम सर्ग

समस्त अन्तरंग बहिरंग परिग्रहों से रहित, श्रेष्ठ गुणों की सम्पदा से युक्त; सबसे महान, जगत के वन्दनीय और विद्या के समुद्र परमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

इसके अनन्तर ये सूर्यमित्र ग्राम नगर खेट वन आदि में अपने गुरु के साथ विहार करते हुए चम्पापुर आये। यह चम्पानगरी या चम्पापुर वासपूज्य भगवान भगवान की निर्वाण भूमि है, जिसको स्तुति-प्रदक्षिणा-नमस्कार करके आचार्य महाराज के साथ निर्वाणभक्ति का पाठ किया। वासुपूज्य स्वामी के गुणों के समूह और निर्वाण लाभ की भावना से जो भी इन सूर्यमित्र महात्मा महामुनि के परिणामों में विशुद्धि आई, उससे अज्ञानरूपी अन्धकार का नाशक तीन लोक के पदार्थों का प्रकाश करनेवाला उत्तम अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। वास्तव में जो नि:स्पृह होते हैं, उनके सारी अभीष्ट ऋद्धियाँ तपश्चरण के प्रभाव से स्वयमेव प्रगट हो जाती हैं।

श्री सुधर्माचार्य ने इन सूर्यमित्र मुनिराज को ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, गुणों के सागर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विशुद्ध आत्मावाले, संघ का भार उठाने में समर्थ, महान तपस्वी, महान तेजस्वी, महाध्यानी, महाव्रती, महान जितेन्द्रिय, महान शीलयुक्त, महान योगी, महान हृदयवाले, संसार के प्राणियों का हित चाहनेवाले, जगत को सुखी करने में नि:स्पृह, सम्पूर्ण अन्य शिष्यों में गुणों से बड़े जानकर समस्त संघ की साक्षीपूर्वक आचार्य पद देकर वे आप एकल विहारी हो गये। अब ये सुधर्मस्वामी आचार्यपद की झंझट से हटकर घोरातिघोर तपश्चरण करते हुए

नाना प्रकार के देशों, नगरों और ग्रामादि में विहार करते हुए ध्यान -अध्ययन में तत्पर, प्रमादहीन, जितेन्द्रिय, धीर-वीर, मौनव्रत धारी महान् आत्मा, महामुनि वाराणसी (बनारस-काशी) नगर पहुँचे। उसके बाहर के स्थान पर प्रासुक निर्जन स्वच्छ स्थान पर हर्षपूर्वक आत्मध्यान के साथ योग साधन किया। आत्मध्यान और योग साधन के योग से मोक्ष के मार्ग में ले जानेवाली क्षपकश्रेणी माँडकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों को नष्टकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी के मुख के लिये दर्पण के समान नौ केवल लब्धियों के साथ केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। केवलज्ञान होते ही इन्द्रादि देवों ने पूजा की और वहीं पर सम्पूर्ण अघाति कर्मों को नष्ट कर शरीर त्याग कर दिया और अनन्त सुख के सागर समस्त लोक के अग्रभाग में स्थित, नित्य गुणों के खान श्री सुधर्मस्वामी ने निर्वाण को प्राप्त किया।

अब सूर्यमित्र आचार्य ने भव्य जीवों के कल्याण के लिये धर्मोपदेशादि देते हुए, धर्म प्रभावना करते हुए ईर्यापथशुद्धि से अनेक स्थानों में विहार करते-करते एक दिन कौशाम्बी नगरी में आहार के लिये प्रवेश किया। वहाँ इनके गृहस्थावस्था के भानजे तथा शिष्य अग्निभूति ने उन्हें सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित निर्ग्रन्थ अवस्था में देख दुर्लभ धरोहर की तरह परमानन्द को प्राप्त हो तीन बार 'तिष्ठ तिष्ठ आहार-जल शुद्ध' यह कर उनको पड़गाहा और नवधाभक्तिपूर्वक दाता के सात गुणों से युक्त विधिपूर्वक ज्ञान की वृद्धि करनेवाला प्रासुक, सरस और मधुर आहार देकर परम प्रसन्नता प्राप्त की।

जब वीतरागी महामुनि श्री सूर्यमित्र आचार्य आहार ग्रहण

करके आत्मध्यान के लिये जाने लगे तो अग्निभूति ब्राह्मण ने कहा कि भगवन्! मेरा भाई वायुभूति क्रोध मायाचार आदि अनाचार करता हुआ धन पैदा करता है और आपकी निन्दा भी करता रहता है, इसलिए उस दुष्ट के घर जाकर उसे आप समझाइये क्योंकि तीन जगत के जीवों को समझाकर मार्ग में लगाने के लिये आप ही समर्थ हैं।

आचार्य महाराज ने कहा कि वत्स! उसके पास जाना भी ठीक नहीं क्योंकि वह स्वभाव से ही कठोर परिणामवाला है, इसलिए हमें देखकर ही वह निन्दादि द्वारा दुर्धर पाप का बन्ध करेगा, जिससे वह चिरकाल तक दु:खी होता हुआ दुर्गति में ही भ्रमण करता रहेगा।

आचार्य महाराज की यह बात सुनकर अग्निभूति ने कहा कि स्वामिन्, मेरे अनुरोध से ही आपको उसके पास चलना और समझाना चाहिए, फिर जैसा होनहार होगा, वैसा हो जाएगा।

अग्निभूति की यह बात सुन जगत के कल्याण के लिये सदैव तैयार रहनेवाले सबके साथ समान भाव रखनेवाले आचार्य महाराज अग्निभूति के आग्रह से वायुभूति के साथ उसके पास चले गये। वायुभूति पापी ने पाप के उदय से उन्हें देखकर, मुनि जानकर कटुक और खोटे वचनों से क्रोधित हो उनकी बड़ी भारी निन्दा की और कहा कि तू वही पुराना दुष्ट क्रूर कंजूस ब्राह्मण है, जिसने हम दोनों से (वायुभूति अग्निभूति से) भीख मँगाई थी और अब नग्न हो गया है। इत्यादि कटुवाक्यों से महामुनि की निन्दा करके अशुभ तिर्यंचगति का बन्ध बाँध लिया। सो ठीक ही है कि जिसका जैसा शुभ या अशुभ होनहार होता है, वैसी ही उसको सारी सामग्री मिल जाती है।

सूर्यमित्र आचार्य महान योगी थे, क्षमादि गुणों के धारक थे, सो समताभाव की अधिक वृद्धि के लिये जो उसने निन्दा करके आक्रोश परीषह दी थी, उसे सहते हुए वे वन को चले गये। जब वायुभूति ने इस प्रकार मुनिराज आचार्य की निन्दा की तो अग्निभूति को बड़ा ही दु:ख हुआ—उसने हृदय में संवेग भाव धारण कर विचार किया कि यह दुष्ट बुद्धि पाप के उदय से कैसा महान् पापी है, जिसने इन महामुनि की अपने ही को दुर्गति देनेवाली निन्दा की। अथवा इसका दोष भी क्या है ? वास्तव में तो मैं ही पापी हूँ जो मैं इनको जबर्दस्ती वायुभूति के पास ले गया, हालांकि भविष्य के ज्ञान के कारण वे नहीं जा रहे थे। इसलिए मुनि निन्दा से जो पाप लगा है, उसका मैं भी भागी हूँ क्योंकि कृत-कारित और अनुमोदना इन तीनों से बराबर ही पाप अथवा पुण्य होता है। अब मुझे इस पाप का प्रायश्चित करना चाहिए, वह यही है कि इन पाप की विशुद्धि के लिये जेल के समान घर को और शत्रुओं के समान बन्धुजनों को जानकर तथा छोड़कर संयम धारण करूँ। उस भाई से मुझे क्या लाभ है जो अपने गुरु की ही निन्दा करता हो ? अथवा उस घर तथा कुटुम्ब से क्या करना है, जिनसे अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। अरहन्त भगवान, मुनि तथा शास्त्रों की भक्ति के समान उत्तम धर्म नहीं और इनकी निन्दा के अतिरिक्त नरक पहुँचानेवाला कोई पाप नहीं। इस घटना तथा इस विचार से उस पुण्यात्मा के हृदय में वैराग्य भाव और भी दूना हो गया। इस अग्निभूति ने अब संसार के भोगों में वैराग्य धारणकर गृहस्थाश्रम को शत्रु के समान समझते हुए उसका त्यागकर अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह छोड़ और देवों के भी दुर्लभ महाव्रतों को मन-वचन-काय की शुद्धि से धारण किया, जो कि किसी सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं।

अग्निभूति महाव्रतों के धारणार्थ जब वन को चला गया तो उसकी भार्या सोमदत्ता को बड़ा दु:ख हुआ। वह उदास होकर वायुभूति के पास गयी और शोक की शान्ति के लिये उससे कहा कि तुमने दुष्टता से महामुनि की जो निन्दा की, उससे मेरा पति हृदय में वैरागी हो, दीक्षित हो गया। जब तक ये बातें किसी को मालूम न पड़े, तब तक अपना कर्तव्य है कि अपन चलकर उनको समझाकर ले आवें। यदि अपन ने विलम्ब किया तो फिर लाना असम्भव हो जाएगा। सोमदत्ता की बात सुनकर वायुभूति को बड़ा भारी क्रोध आया और उसने क्रोध में अन्धे हो अपनी भौजाई के मुँह पर लात मारी। इस तरह की मार फटकार से सोमदत्ता को भी अपना और दूसरे का नाश करनेवाला क्रोध आया और उसने निन्दनीय कर्म करानेवाला, जगत में निन्द्य निदानबन्ध किया और कहा कि मैं असमर्थ अबला हूँ, सो इस समय तो इस अपराध के फल स्वरूप तेरा बिगाड़ मैं कर नहीं सकती किन्तु अगले जन्म में मैं ऐसी बनूँगी जो तेरे पाँव को तोड़-तोड़कर खाऊँगी, यह निश्चय समझना। सो ठीक ही है कि—दुर्बुद्धि जब क्रोध से अन्धे हो जाते हैं, तब हानि-लाभ कुछ नहीं देखते; इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि दोनों लोक बिगाड़नेवाले, धर्म और कल्याण को नष्ट करनेवाले इस क्रोध को क्षमारूपी बाणों से नष्ट करना चाहिए।

वायुभूति भी उस मुनि निन्दा की घटना के सातवें दिन ही महान पाप के उदय से उदम्बर कुष्ठ से पीड़ित हो गया जो कि 18 प्रकार के कोढ़ों में एक असाध्य कुष्ठ (कोढ़) है। इस तरह वह वायुभूति महान दु:खी हो गया। सो ठीक ही है कि महान पापों के संचय से परभव की तो क्या बात ? इस भव में भी महान क्लेशों और दु:खों को वे मूर्ख पापी भोगते हैं। वह वायुभूति ब्राह्मण विद्वान

महाकुष्ठ नामक महान व्याधि से अत्यंत पीड़ा को भोगते हुए आर्तध्यानपूर्वक मर गया और उसी नगरी में गधी हो गया। सत्य है कि देव-गुरु-शास्त्र और धर्मात्माओं की निन्दा करनेवालों की ऐसी ही दुर्गति होती है। ऐसे लोगों का वर्तमान, अनागत तथा अतीत सारा शुभ सुख पाप से नष्ट हो जाता है; इसलिए यह जानकर चाहे प्राण ही चले जाएँ तो भी निर्दोष अरहन्त भगवान, गुरु, मुनिराज, श्रावक तथा धर्मात्माओं की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए।

उस गर्दभी (गधी) ने भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के अनेकों दु:खों का अनुभव कर सहन किया। पाप के उदय से थोड़ी ही आयु में गधी की दु:ख से भरी हुई पर्याय से भी छूटकर उसी नगर में शूकरी (सूअरी अथवा सूरड़ी) हो गयी जो कि गधी की पर्याय से भी निम्न है। उस शूकरी की पर्याय में भी उसने भूख आदि महान दु:ख तथा जनता से ताड़न-मारण आदि सहकर किसी मालिक के न होने से सर्वथा पराधीन वह अत्यन्त कष्ट से मर गयी और इसी चम्पानगरी में विकराल भयंकर मुँहवाली, क्रूर, दु:ख से व्याकुल चाण्डाल के घर में कुत्ती हो गयी। इस पर्याय में भी भूख-प्यास, सर्दी, गर्मी आदि अनेक कष्ट भोगकर अत्यन्त क्लेशपूर्वक मरण कर उसी चाण्डाल के घर कौशाम्बी नाम की चाण्डाली के जन्म से अन्धी, दुर्गन्धि से सड़ रही, महान कुरूप चाण्डाली हुई। यह सब मुनिनिन्दाजनित पाप से अशुभ का उदय था।

किसी समय धर्मध्यानपरायण सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज भूमण्डल में विहार करते-करते वहाँ आ गये। सूर्यमित्र मुनिराज के तो उपवास था, इसलिए वे तो वन में ही ठहर गये किन्तु अग्निभूति मुनिराज शरीर की स्थिति के अर्थ आहार के लिये वन से चम्पानगरी

में आये। उन्होंने मार्ग में जाते हुए बहुत वृक्षों से सने हुए जामुन के वृक्ष के नीचे खड़ी हुई उस दु:ख से पीड़ित चाण्डाली को देखा। उस चाण्डाली को देखते ही वे अग्निभूति महामुनिराज भी कुछ दु:खी हो गये और स्नेह तथा दु:ख से उनकी आँखों में आँसू आ गये। श्री अग्निभूति महाराज ने उस चाण्डाली के देखने से अपनी ऐसी अवस्था देख वन को वापस लौटकर अपने गुरु श्री सूर्यमित्र महाराज को नमस्कार कर पूछा कि महाज्ञान के धारण करनेवाले गुरु महाराज! चाण्डाली के देखने से मुझे शोक क्यों हुआ, मेरी आँखों में आँसू क्यों आ गये? इन शोक आदि दु:खों के होने का क्या कारण है, सो कृपा करके मुझे बतलाइये।

अग्निभूति मुनिराज के इस प्रश्न को सुन गुरुराज श्री सूर्यमित्र मुनिराज (मैं) बोले कि धीमन्! यह चाण्डाली तुम्हारे भाई वायुभूति का ही जीव है। इसने मेरी निन्दा की थी, उसी निन्दाजनित पाप से उस वायुभूति पर्याय में भी महान कुष्ट (कोढ़) व्याधि के दु:ख भोगे और मरकर अनेक तिर्यंचगति में रुलकर जगत् में निन्दनीय नेत्रहीना कुरूप चाण्डाली हुआ है। पुराने जन्म के स्नेह सम्बन्ध से यह शोक और दु:ख तुमको हुआ है। प्राणियों के भव-भव में स्नेह और वैर के भाव प्रकट होते रहते हैं। अग्निभूते! तुम एक बात और भी सुनो और वह यह है कि तुम्हारे भाई वायुभूति के जीव इस चाण्डाली की आसन्न भव्यता बहुत निकट है अर्थात् आ ही गयी है। इसका मरण आज ही होनेवाला है, इसलिए तुम वापस जाओ और उसे सम्बोधकर युक्तिपूर्ण वाक्यों से उसके कल्याण के लिये उसे व्रतपूर्वक संन्यास ग्रहण कराओ।

श्रीगुरु महाराज के ये वाक्य सुनकर परोपकारी अग्निभूति

महामुनि ने शीघ्र ही वहाँ जाकर उत्तम वाणी द्वारा संबोधते हुए कहा कि बेटी ! तू देव-गुरु-शास्त्र की निन्दा के पाप से तिर्यंचगति के दु:ख भोगकर अब इस नीचकुल में पैदा होकर महान दु:ख भोग रही है। इसलिए तू पाप को नष्ट करने के लिये अब धर्म को ग्रहण कर। उस धर्म की सिद्धि के लिये मद्य, माँस, मधु और पाँच उदम्बर फलों का त्याग कर। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इस प्रकार चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दे। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ग्रहण कर ले और तू मेरा कहना मानकर संन्यास ग्रहण कर, क्योंकि तेरा आज ही मरण होनेवाला है; इसलिए अब तू अपने कल्याण के लिये मैंने जो कहा है, वह शीघ्र कर।

उस चाण्डाली ने भी श्री अग्निभूति मुनिराज के वचन से वैसा ही करके व्रत ग्रहण किये और भोजनपानादि का त्याग कर संन्यास धारण कर लिया। इसी समय इस नागशर्मा ब्राह्मण की स्त्री त्रिदेवी, पुत्री की प्राप्ति की इच्छा से उत्सवसहित नागों को पूजने के लिये आयी—जो उसी मार्ग से जा रही थी। तब वायुभूति के जीव उस चाण्डाली ने जिसने कि अग्निभूति मुनिराज के उपदेश से व्रतपूर्वक संन्यास धारण किया था, गाजे-बाजे आडम्बर की आवाज सुन यह निदान किया कि मैंने जो व्रतपूर्वक संन्यास लिया है, उसके फल से इस नागशर्मा की स्त्री त्रिदेवी के कन्या हो जाऊँ और दूसरी गति नहीं पाऊँ। जैसे कोई मूर्ख रत्न देकर काँच लेना चाहे, ऐरावत हाथी बेचकर गधा खरीदना चाहे, सुवर्ण के बदले लोह का टुकड़ा लेना चाहे; वैसे ही उस ज्ञानहीना ने स्वर्ग की सम्पदा के देनेवाले संन्यास और व्रत से इस प्रकार का निदान किया, सो यह सब कुबुद्धि का ही फल है। जिस व्रतपूर्वक संन्यास धारण से स्वर्ग

और परम्परा से मोक्ष तक की प्राप्ति होती, उसको इसने उस त्रिदेवी के गर्भ से स्त्री पर्याय में कन्या होने की इच्छा की—सो इस निदान बन्ध से वह चाण्डाली मरकर नागश्री कन्या के रूप में उत्पन्न हुई परन्तु उसमें व्रत संस्कार की वासना थी, जिससे अब भी इसने व्रत ग्रहण किये हैं। सो यही नागश्री आज यहाँ नाग पूजने आयी थी—हम दोनों (सूर्यमित्र और अग्निभूति) ने इसे व्रत ग्रहण करा दिये हैं। वायुभूति का जीव चार पर्यायें भोगकर यह नागश्री हुआ है।

इस प्रकार पूर्वभव सम्बन्धी वृतान्त कहकर वे श्री सूर्यमित्र मुनिमहाराज श्री चन्द्रवाहन राजा से कहते हैं कि—राजन्! मनुष्य अपने पाप से ही दुर्गतियों में भ्रमण करते हैं और धर्म से उत्तम गति में जाते हैं एवं पुण्य-पापरूप दोनों प्रकार के परिणामों तथा आचरण से मध्यम गति (मनुष्यपर्याय) प्राप्त होती है। धर्म से ही धर्मात्मा लोग इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के उत्तम पद प्राप्त करते हैं और पापी लोग पाप के फल से नरक, तिर्यग्गति प्राप्त करते हैं। तीन जगत् के स्वामी तीर्थंकर भगवान की सम्पूर्ण सम्पदा भी धर्म से ही मिलती है और दुर्बुद्धि लोग पाप से दरिद्रता जैसा महान पाप का फल भोगते हैं। राजन्! तीन लोक में जितने भी कल्याण और सुख के साधन हैं, वे सब धर्म से ही प्राप्त होते हैं और पापी लोग पाप से ही समस्त दु:खों का समूह प्राप्त करते हैं। धर्म से ही जिनेन्द्र भगवान आदि पुरुषोत्तम होते हैं और पाप से नौकर-चाकर, गरीब और भिखारी बनते हैं, चाहे कोई वस्तु कितनी ही दूर और दुर्लभ हो, किन्तु अपने को प्यारी हो और वह तीन लोक में कहीं भी हो, धर्म से प्राप्त हो जाती है और पाप से हथेली में आई हुई भी चली जाती है।

इस प्रकार धर्म से चतुर विद्वान लोग महान सद्गतियों को पाते हैं और पापीजन कुगतियों में रुला करते हैं, जो कि सब बुराईयों की खान होती हैं। यह विश्वास कर विद्वानों को चाहिए कि धर्म का पालन करें, जो कि समस्त सुख समृद्धि और मोक्ष का साधन है और पाप कार्यों को मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक छोड़ें। धर्म ही ऐसा है जो देव, नरेन्द्र, देवेन्द्र, आदि पदों का देनेवाला है, इसलिए मैं धर्म का सेवन करता हूँ। मैं धर्म से धर्म का आचरण करता हूँ और धर्म के लिये ही तप करता हूँ। धर्म से अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका मैं सहारा ले सकूँ; इसलिए धर्म के गुणों का ही मैं सेवन करता हूँ। मैं धर्म में चित्त लगाता हूँ, इसलिए हे धर्म! मेरा संसार भय दूर करो।

षष्ठ सर्ग

गुणों के समुद्र, जगत के स्वामी, लक्ष्मीयुक्त और महान ऐसे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु परमेष्ठियों को मुक्ति की प्राप्ति के लिये मेरा प्रतिदिन नमस्कार है।

योगिराज मुनीश्वर की वाणी से पाप के फल से उत्पन्न दु:खों से पूर्ण पूर्व भवों के घटनाचक्र को सुनकर श्री चन्द्रवाहन राजा, नागशर्मा तथा अन्य नागरिक श्रोताओं को संसार के भोगों तथा शरीर गेहादि पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न हो गया और हृदय में विचार किया कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ जैनधर्म ही महान शुभ है, दयामयी तथा सत्य है। अन्य द्वारा कहा हुआ धर्म तो जीव -हिंसक है। भक्ति और मुक्ति के कारण होने से जिनेन्द्रदेव ही केवल सर्वज्ञ हैं, वे ही निर्दोष और महादेव भी हैं; बाकी अन्य सब तो दोषों से भरे हुए हैं। अंगों और पूर्वों में जिनका वर्णन है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत शास्त्र ही सच्चे और धर्म के मूल हैं। दुर्जनों के द्वारा कहे हुए अन्य शास्त्र मिथ्या और अधर्म के मूल हैं। लोक-अलोक के ज्ञाता, संसार के बन्धु, चतुर निर्ग्रन्थ गुरु ही पूज्य हैं और विषयों से आकुलित वेषधारी कुगुरु पूज्य नहीं हैं। तीन जगत का दीपक और तीन काल की सूचना देनेवाला जैसा निर्ग्रन्थ दिगम्बर योगियों का ज्ञान होता है, वैसा अन्य मिथ्यादृष्टियों का नहीं है। जैसे कोई विष खाकर भी जीने की इच्छा करता हो, वैसे कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टि जीवहिंसा से कल्याण की इच्छा करते हैं। जैसे कोई साँप को माला समझकर गले में डालता है; वैसे ही खोटे मार्ग में जानेवाले धर्मबुद्धि से पितृतर्पणादि पाप का सेवन करते हैं। अन्तरंग और बहिरंग इस प्रकार दोनों प्रकार के मैल छूट

जाने से केवल जैनधर्मी ही शुद्ध होते हैं, बाकी सब अन्य मिथ्यादृष्टि ऊपर से जल से धोये हुए मदिरा के घड़े के समान हैं। मिथ्यात्व और मोहरूपी मैल से लिपटे हुए जो केवल स्नान से अपने को शुद्ध मानते हैं, वे बुद्धि भ्रष्ट हो जाने से मृग-मरीचिका में पानी समझते हैं। धर्म के बिना हमारे इतने दिन खोटे मतों के आश्रय से वृथा ही चले गये। आज किसी अत्यन्त पुण्य के योग से सन्मार्गरूप जैनधर्म का लाभ हुआ है। इसप्रकार के विचार और निमित्त से उस नागशर्मा पुरोहित के हृदय में वैराग्यभाव और भी दूना हो गया और मुनिराज के वचनरूपी अमृत से उसको परम निर्वेदभाव की प्राप्ति हो जाने से उसने जो पहले मिथ्यात्वरूपी विष का भक्षण किया था, उसे निकालकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह को छोड़ जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसी समय साथ में जो अन्य विद्वान ब्राह्मण थे, उनमें से बहुत-सों ने मुनिराज के वचनों से श्रेष्ठ धर्म का माहात्म्य जानकर कुमार्ग का त्याग कर दिया और संसार-देह-भोगादि से विरक्त हो दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ मुनिपद धारण कर लिया।

श्री नागशर्मा पुरोहित की सुपुत्री नागश्री ने भी अपने समस्त पूर्वभव के वृत्तान्त को सुन अनाचार और पापों से डरकर वैराग्यरूपी भूषण को धारण कर लिया। उस अत्यन्त विदुषी पण्डित ने एक साड़ी के अतिरिक्त सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ बालकपन में भी आर्यिका की दीक्षा धारण कर ली। त्रिदेवी आदि जो अत्यन्त समझदार और विचक्षण ब्राह्मणियाँ थीं, उन्होंने भी धर्म श्रवण करने से मोहरूपी शत्रु को पछाड़कर वैराग्य से स्वर्ग और मोक्ष के सुखों की प्राप्ति के लिये समस्त परिग्रहों को छोड़ जैन दीक्षा धारण कर ली।

चम्पानगरी के राजा श्री चन्द्रवाहन ने भी इस कथा के सुनने

से संसार-देह-भोगादि से विरक्त होकर अपने पुत्र लोकपाल को राज्य का भार सौंप दिया और स्वयं मुनिदीक्षा धारण कर ली। इस राजा के साथ अन्य कितने ही लोगों ने संवेग धारण कर लिया। अन्त:पुर में रहनेवाली कितनी ही रानियों तथा महिलाओं ने भी संवेग में तत्पर हो आर्यिका दीक्षा ले ली। बहुत से नागरिकों ने, उस कथारूपी अमृत के पीने से मिथ्यात्वरूपी विष को उगलकर जैनधर्म स्वीकार कर लिया। कितने ही लोगों ने महाव्रत लेकर मुक्तिलाभार्थ मुनिपद धारण कर लिया और कितने ही ने अणुव्रत लेकर श्रावक दीक्षा अंगीकार कर ली तो कितने ही ने जैनधर्म में अपनी हार्दिक श्रद्धा रख श्रावक पद धारण किया।

इस प्रकार श्री सूर्यमित्र मुनिराज का बड़ा विशाल संघ हो गया। श्री मुनिराज ने धर्मप्रभावना और धर्मप्रसार के लिये एक बड़े विशाल संघ के साथ विहार करना प्रारम्भ किया। सभी नवीन दीक्षित साधुओं ने गुरु के वचन से यत्नपूर्वक उत्तम ज्ञान की प्राप्ति के लिये अंग-पूर्वों का पठन-पाठन प्रारम्भ किया और कर्मरूपी वन को दावानल के समान जो बारह प्रकार का तपश्चरण है, उसे करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार सांसारिक मोहरूपी शत्रु के विनाश के लिये अपने गुरु के साथ-साथ सभी तपश्चरण में लीन हो गये। वे सब सूने मकानों, गुफाओं, पर्वतों आदि निर्जन और शान्त स्थानों में ध्यान और अध्ययन के लिये प्रमाद रहित होकर रहने लगे। उन्हें मार्ग में चलते-चलते जब सूर्य अस्त हो जाता था, तब वे जीव दया के लिये वहीं कायोत्सर्गपूर्वक खड़े रह जाते थे। वे सभी साधु मुनिराज स्थिर चित्त हो यत्नपूर्वक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लगे रहते थे। आर्तध्यान और रौद्रध्यान का तो उनके काम ही क्या

था? वे लोगों को स्वाध्याय, देवपूजादि आवश्यकों के पालन आदि का धर्मोपदेश ही देते थे, किसी भी विकथा का उनके पास काम नहीं था। वे सदैव अतिचाररहित चन्द्रमा के समान निर्मल चारित्र को पालते थे और सारभूत मूलगुणों-उत्तरगुणों का यत्नपूर्वक पालन करते थे। वे समस्त मुनिराज पाप, स्त्रियों के रूप और मिथ्यात्ववर्धक स्थानों के देखने में अन्धे थे और जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति, सिद्धभूमि, धर्मस्थान आदि के देखने में नेत्रसहित थे। खोटे मिथ्यात्ववर्धक किन्तु लोक में तीर्थस्थान कहानेवाले मार्गों के जाने में पंगु (पाँव रहित) थे। उत्तम आत्महितैषी तीर्थ स्थानों की यात्रा तथा गुरु उपासना आदि धर्म कार्यों में पाँवसहित और शीघ्रगामी थे।

इस प्रकार श्री सूर्यमित्र आचार्य अपने संघ के साथ भूमण्डल में विहार करते हुए मार्ग में लोगों को धर्मोपदेश द्वारा तृप्त करते हुए, धर्म में स्थापित करते हुए राजगृह नगर के प्रासुक उद्यान की भूमि में धर्म के प्रकाश के लिये एक दिन आ पहुँचे। कौशांबी नगरी का राजा अतिबल भी उसी समय अपने चाचा सुबल से मिलने के लिये वहाँ आया था। राजा अतिबल की सुबल राजा ने बड़ी मनुहार व आवभगत की थी, इसलिए थोड़े दिन दोनों राजाओं ने साथ ही निवास किया। वनपाल ने इन दोनों राजाओं से उद्यान में मुनिसंघ के आगमन के समाचार कहे, सो ये राजा सुनते ही मुनि वन्दना के लिये उद्यान की ओर चल पड़े।

महान दीप्तिऋद्धिधारी आचार्यवर्य को उद्यान में विराजमान देखकर नतमस्तक हो नमस्कार कर उत्तम सामग्री से पूजन कर राजा सुबल बहुत ही आश्चर्यान्वित हो गया। राजा सुबल ने जब श्री सूर्यमित्र आचार्य महाराज की शरीर की कान्ति को सूर्य के तेज

को भी मात करनेवाली देखा तो बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने यह अतिशय देखकर अपने हृदय में सोचा कि यह सारा जैन दीक्षा और तपस्या का चमत्कार है, जो मेरा यह सूर्यमित्र नाम का ब्राह्मण पुरोहित जिनदीक्षा और तपश्चरण के फल से इस प्रकार का दीप्तरूप, दिव्यशरीर, महाज्ञानी, महातेजस्वी, कान्ति और ज्योति का पुंज संघनेता आचार्य हो गया। जब तप, संयम, ध्यान आदि से यहीं महान ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तीन जगत में मान्यता हो जाती है, प्रतिष्ठा सत्कारादि प्राप्त होते हैं, तब परलोक में तो न मालूम उन महात्माओं को किस प्रकार की महान विभूति मिलती होगी? राज्यलक्ष्मी जो मनुष्य को प्राप्त होती है, वह भी किसी तपस्या के फल से ही प्राप्त होती है। यदि इस राज्यलक्ष्मी का त्याग करके तपस्या की जाए तो अविनाशी सुख और लक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है; इसलिए इस राज्यलक्ष्मी को छोड़ने में अधिक विलम्ब करना ठीक नहीं।

इस प्रकार विचार से सुबल राजा के हृदय में पूर्ण वैराग्य भावों की उत्पत्ति हो गयी। संसार के विषयभोगादि से अरुचि हो गयी। धर्म और धर्म के फल में अनुराग हो गया। उसने निश्चय कर लिया कि राज्य का यह अत्यन्त खोटा भार अपने सर से उतारकर तपश्चरण का श्रेष्ठ भार लादना चाहिए। इस प्रकार उसने तपस्या के लिये तैयार होकर अतिबल राजा से राज्यभार सम्भालने को कहा और कहा कि यह राज्य का भार तुम सम्भालो—मैं अब संयम ग्रहण करता हूँ।

सुबल राजा की यह बात सुनकर राजा अतिबल ने कहा कि बुद्धिमान्! जिस राज्य के दोष आप जानकर छोड़ रहे हो, उनसे ज्यादा मैंने जान लिये हैं और जिन तपश्चरण चारित्र और धर्म के

गुण आपने जाने हैं, उनसे भी अधिक ज्ञानरूपी निर्मल नेत्रों से मैंने जान लिये हैं; इसलिए मैं इस अनर्थों के मूल राज्य के भार को उठाने में समर्थ नहीं हूँ और आपके समान ही कठिन और दुर्धर तपश्चरण करूँगा—क्योंकि इस संसार राज्य से भी बड़ा मुक्ति साम्राज्य तपस्या से ही प्राप्त होगा।

जब राजा सुबल ने यह अच्छी तरह जान लिया कि अतिबल संसार से उदासीन है और राज तक करना नहीं चाहता तो उसने मीनध्वज पुत्र को राज्य का भार सौंप दिया और स्वयं अतिबल आदि अनेक लोगों के साथ सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागकर महान् मुनिपद धारण कर लिया।

उन मुनिराजों सहित धर्म प्रभावना में तत्पर जगत के बन्धु हितंकर श्री सूर्यमित्र आचार्य मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिये नगर, ग्राम, वनादि में वहाँ से चल विहार करने लगे। नागश्री आर्यिका भी अपनी शक्ति को न छिपाकर निरतिचार संयम और तप पाल रही थी। उसकी आयु केवल एक मास शेष रह गई और ऐसा जान लिया गया तो उसने समाधिमरण के लिये सब प्रकार के आहार का त्याग कर संन्यास धारण कर लिया। सम्पूर्ण क्षुधा-तृषादि परिषहों को जीतकर उपवासरूपी अग्नि के संयोग से अपने समस्त शरीर को पवित्र और शुद्ध कर चार प्रकार की आराधनाओं को साधकर धर्मध्यानरूपी यत्न से समाधिपूर्वक प्राण छोड़े। नागश्री ने अपने मानव पर्याय से प्राण त्यागकर तप और संन्यास के प्रभाव से सुख की खान अच्युत स्वर्ग के रत्नमयी पद्मगुल्म विमान में महर्द्धिक दिव्यरूपधारी देव पर्याय प्राप्त की अर्थात् नागश्री का जीव पद्मनाभ नामक देव हुआ। नागश्री का पिता जो नागशर्मा पुरोहित था, वह

भी तपस्या और अन्त में समाधिमरण के लिये संन्यास के प्रभाव से उसी अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया। नागश्री की माता जो त्रिदेवी थी और जो आर्यिका हो गयी थी, वह भी तप संयम के प्रभाव से अन्त समय अनशनादि तप के कारण आत्मशुद्धिपूर्वक शरीर त्याग किया और इसी पद्मनाभदेव के अंगरक्षक देव की पर्याय में जा पहुँची। चन्द्रवाहन राजा, सुबल राजा और अतिबल राजा जो योगिराज हो गये थे, वे उत्तम-उत्तम तपश्चरण करते हुए संन्यास -पूर्वक प्राणों का त्यागकर तप और संयम धर्म के प्रभाव से सुख की खान आरण नामक स्वर्ग में महान विभूतिधारी देव हो गये। अन्य मुनिराज भी जीवनपर्यन्त अद्‌भुत तपश्चरण कर अन्त में संन्यास धारण कर धर्मध्यान से प्राण त्यागकर अपने-अपने पुण्य के योग्य स्वर्गों में दिव्य स्वर्गीय विभूति के धारी महर्द्धिक देव हो गये। कितनी ही आर्यिकाएँ भी रत्नत्रय के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर यथायोग्य सुख से भरे अच्युत स्वर्गों तक में जाकर देव हो गयीं।

अब वे पद्मनाभादिक देव अन्तर्मुहूर्त काल में ही सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त होकर स्वभाव से ही उत्पन्न दिव्य श्रेष्ठ वस्त्राभरणों से मण्डित शिला के सम्पुट के बीच दिव्य कोमल शय्या पर बैठते हुए आश्चर्य से भरे चित्त से उस देवलोक सम्बन्धी सम्पदाओं को देख क्षणमात्र में ही अवधिज्ञान से युक्त हो गये। उस अवधिज्ञान से इस समस्त देव सम्पदा को तप का फलस्वरूप जान और पूर्व जन्म के सारे वृत्तान्त जान धर्म के प्रति और भी दृढ़ बुद्धि के धारी हो गये। इसके बाद वे पद्मनाभादिकदेव अपने परिवार सहित श्रेष्ठ धर्म की साधना के लिये स्फटिकमणिमयी जिनालय के दर्शनार्थ गये। वहाँ जाकर करोड़ सूर्यों के तेज से भी अधिक तेजवाले श्री तीर्थंकर

भगवान के बिम्बों के दर्शन कर नमस्कार और स्तुति करते हुए महान पूजा की। बड़े भारी देवोपुनीत ठाटबाट से भक्तिपूर्वक दिव्य और उत्कृष्ट अष्टविध सामग्री द्वारा पूजा अर्चा करते हुए गीत, नृत्य, वादित्रादि द्वारा चैत्यवृक्षों में स्थित जिनमूर्तियों की पूजा की और पश्चात् नन्दीश्वरादि मेरुओं में जाकर वहाँ जिनपूजा करके महान आनन्द प्राप्त किया। वहाँ से विदेहक्षेत्रों में जाकर श्री जिनेन्द्रदेव, गणधरदेव, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं के चरण कमलों की भक्तिपूर्वक पूजा करके सिर झुकाकर प्रणाम कर उनसे परम धर्मामृत का पान कर वे देव अपने-अपने स्थान चले गये। वहाँ जाकर धर्म, संयम और तप से प्राप्त दिव्य स्त्री विमानादि सम्पदाओं में लीन हुए। धर्म में लीन ये देव स्वर्गों में श्री जिनेन्द्रदेवाधिदेव के पंच कल्याणकों की पूजा करते रहते हैं तथा बाकी केवलियों की भक्तिपूर्वक ज्ञानकल्याणक की पूजा करते हैं। गणधरों मुनिराजों आदि की पूजा करते रहते हैं। इस प्रकार अन्य-अन्य श्रेष्ठ आचरण से वे देव सदैव शुभ पुण्यबन्ध करते हुए सहस्रों देवांगनाओं के साथ नाना प्रकार के भोग भोगते हैं।

स्वर्गों के दिन-रात्रि का भेद नहीं होता। वहाँ ऋतुएँ दुःखदायक नहीं होतीं, वहाँ सदैव सुख देनेवाला समान काल ही रहता है। वहाँ न कोई दीन गरीब है, न निर्धन है, न रोगी है, न कुरूप है, न दुःस्वर है, न दुःखी है, न पागल है, न विकलांग ही है। ऐसे लोग स्वप्न में भी वहाँ नहीं दिखते हैं। स्वर्गों में सभी देव दिव्य लक्ष्मी कान्ति धैर्य आदि से विभूषित सम्पूर्ण दुःखों से रहित और सुखरूपी समुद्र के मध्य में मग्न होते हैं। पद्मनाभादि सम्पूर्ण देव समस्त दुःखों से दूर, बिना टिमकार के नेत्रवाले, चतुर, जिनेन्द्रभक्ति में तत्पर, सप्त

धातु मल पसेव आदि से रहित और दिव्य शरीर के धारक थे। इनका तीन हाथ ऊँचा शरीर था और बाईस सागर प्रमाण आयु थी। वे बाईस हजार वर्ष में केवल मानसिक आहार ग्रहण करते थे और ग्यारह मास में एक बार श्वास लेते थे, छठे नरक पर्यन्त शुभाशुभरूपी द्रव्य को अवधिज्ञान के योग से ये जान लेते हैं। छठे नरक तक की पृथ्वीपर्यन्त क्षेत्र में विक्रियाऋद्धि के बल से ये गमनागमन करते हैं। देवांगनाओं के दिव्यरूप सौन्दर्य शृंगार और नाना प्रकार के नृत्यों को देखते हुए अप्सराओं के मुख से नाना प्रकार के मनोहर-मनोहर गीतों को सुनते हुए महल, उद्यान, पर्वत, मेरु आदि असंख्य द्वीप समुद्रों में देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा करते हुए अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए बीते हुए काल को नहीं जानते हैं अर्थात् समय जाता हुआ उनको दिखता ही नहीं है और वे सुखरूप समुद्र में मग्न रहते हैं।

इस प्रकार पुण्य के बल से, जो कि तपश्चरण से प्राप्त होता है, परम सुख की दाता विभूति को प्राप्तकर भोग भोगते रहते हैं। इसलिए धर्मात्मा सज्जन पुरुषों को चाहिए कि सुख की प्राप्ति के लिये समस्त शक्ति के साथ एक धर्म का ही सेवन करें। धर्म ही समस्त विश्व के मनोरथों को सिद्ध करनेवाला है। धार्मिक लोग धर्म का ही सहारा लेते हैं। धर्म से ही सत्पुरुषों को शिवपद की प्राप्ति होती है, इसलिए धर्म को नित्य नमस्कार हो। धर्म के अतिरिक्त जगत में सुखकारी दूसरा पदार्थ नहीं, इसलिए धर्म में मेरा सदैव मनोयोग बना रहे। हे धर्म! मेरे घातिकर्मों को नष्ट कर। इस प्रकार धर्म की महिमापूर्वक उससे निवेदन करते रहना चाहिए।

सप्तम सर्ग

समस्त तीर्थंकर, सिद्ध परमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इस प्रकार पंच परमेष्ठियों को उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।

अब वे सूर्यमित्र और अग्निभूति महामुनि, जो कि रत्नत्रय की शुद्धि प्राप्त कर चुके और उत्कृष्ट आचरण से विभूषित हैं, अनेक देशों में विहार करते हुए, लोगों को मोक्षमार्ग में लगाते हुए एक दिन वाराणसी नगरी के बाहर के उद्यान में चले गये। वहाँ उन दोनों महामुनियों ने आत्मध्यान में अपने परम निश्चल चित्त को लगाकर घातिकर्मों के नष्ट करनेवाले योग को धारण किया और क्षपकश्रेणी माँडकर, जो कि मोक्षरूपी महल में चढ़ने के लिये सीढ़ियों के समान है, पृथक्त्ववितर्कवीचारनामक शुक्लध्यान से मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया। इसके बाद कर्मों की विजयभूमि को पाकर इन दोनों महामुनियों ने एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानरूपी शस्त्र से बाकी के तीन घातिकर्मों को भी नष्ट कर डाला। चारों घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से तीन लोक के प्रकाश करने में दीपक के समान केवलज्ञान उनके प्रगट हो गया। मुक्ति लक्ष्मी के देनेवाले समस्त क्षायिक गुणों के साथ-साथ उपमाररहित सारभूत नव केवल-लब्धियाँ इनके प्रगट हो गयी। केवलज्ञान के प्रगट होते ही इन्द्रादि देवों ने उत्कृष्ट विभूति से आकर बड़ी भारी पूजा की। समस्त धर्मात्माओं और देवों से पूजित वे दोनों केवलज्ञानी अपनी दिव्यध्वनि से मोक्षमार्ग के प्रकाशित करने में पूर्ण समर्थ होते हुए ग्राम, देश, पुर, पर्वत आदि प्रदेशों में विहार करते हुए मोक्षसुख की

प्राप्ति के लिये अग्नि मंदिर नामक पर्वत पर आये और वहाँ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्लध्यानों के योग से चारों अघाति कर्मों को भी नष्ट कर शाश्वत सुखवाले मोक्षधाम के साम्राज्य को प्राप्त कर लिया। शाश्वतसुख-मोक्षधाम में अनंत सुख है, समस्त प्रकार की बाधाओं से जो रहित है, उपमारहित, अपनी आत्मा में ही उत्पन्न, वृद्धि और ह्रास से रहित, सारभूत अक्षय और अतीन्द्रिय है। परम दिव्य सम्यक्त्वादि आठ गुणोंवाले, सिद्धत्व को वे प्राप्त होकर ज्ञान-देह से युक्त और समस्त प्रकार के जड़ देह से रहित होते हुए मुक्तिश्री का सुख भोगने लगे। जब पद्मनाभादि देवों को अवधिज्ञान से मालूम हुआ कि इस प्रकार वे महामुनि मोक्षधाम में जा विराजे हैं, तो उन्होंने बड़े उत्साह से निर्वाण पूजा की।

❁ ❁ ❁

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विनयवान् श्रेष्ठ धर्मात्माओं से संयुक्त अवन्ति देश है। जहाँ सदैव केवली भगवान, संघनायक आचार्य और मुनिराज मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिये विहार करते रहते हैं। जहाँ के नगर, ग्राम, देश आदि बड़े-बड़े धर्मात्माओं और जिन चैत्यालयों से सुशोभित हैं। जहाँ के वनों, पर्वतों, नदीतटों, पर्वत-गुफाओं आदि में ध्यानाध्ययन में लीन धीर-वीर मुनिराज देखे जाते हैं। जहाँ जैनगुरुओं के मुख से धर्म श्रवण कर कितने ही वैरागी मनुष्य तपश्चरण करते हैं तो कितने ही धर्मार्थ व्रतों को ग्रहण करते हैं। जहाँ उत्पन्न होनेवाले साधु बनकर कितने ही मोक्ष जाते हैं तो कितने ही कल्पनातीत सुखों के स्थान स्वर्गों में जाते हैं। जहाँ कितने ही जिनेन्द्रदेवाधिदेव की पूजा-स्तुति आदि के प्रभाव

से स्वर्गों में सम्यग्दृष्टि इन्द्र होते हैं और कितने ही सत्पात्र को दान देकर उसके पुण्य से भोगभूमि को प्राप्त होते हैं। जहाँ उत्पन्न होने के लिये देव और इन्द्र भी तरसते हैं क्योंकि मोक्ष की सिद्धि इसी कर्मभूमि क्षेत्र से होती है; इसलिए इस क्षेत्र का वर्णन कहाँ तक किया जाये ?—इत्यादि वर्णनों से युक्त देश के मध्य भाग में सुख और सम्पत्ति से सहित उज्जयिनी नगरी है, जहाँ बड़ी-बड़ी ऊँची अट्टालिकाएँ, कोट, गहरी-गहरी खाइयाँ हैं और जो बड़े-बड़े योद्धाओं के होने से अत्यन्त दुर्गम हैं। जहाँ नाना प्रकार के रंगों से रँगे हुए महलों की पंक्तियाँ हैं और जहाँ बड़े-बड़े धर्म की खान जिनमन्दिर सुशोभित हैं, जो सोने और रत्नों से बने हुए हैं, बड़ी-बड़ी जिनमें ध्वजाएँ हैं, रात-दिन स्त्री, पुरुष, दर्शन पूजार्थ जहाँ जाते-आते रहते हैं। गान वाद्य नृत्य स्तवन आदि से जो सदैव गुंजायमान रहते हैं। जिस नगरी में पुण्यवन्त नर-नारी सवेरे बिस्तरों से उठकर धर्मसाधना के लिये सामायिक ध्यानादि करते हैं, इसके बाद ही वे गृहकार्य करते हैं क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ धर्म ही समस्त अर्थों की सिद्धि का देनेवाला है। जहाँ गृहकार्य से निवृत्त होकर जिनालयों में जाकर गृहस्थ लोग तीर्थंकर भगवान की पूजा करते हैं और पीछे पात्रदान के लिये अपने-अपने घरों के दरवाजों पर खड़े होकर द्वारपेक्षण किया करते हैं। सायंकाल, दिन में जो भी गृहकार्यादि द्वारा पाप लगता है, उसे मिटाने के लिये कायोत्सर्गादि शुभ क्रियाएँ करते रहते हैं। जहाँ पुत्रजन्मोत्सव, विवाह आदि शुभ और मांगलिक कार्यों में श्रावक गृहस्थ लोग मंगल कामना के लिये बड़े ठाट-बाट से जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ कर्मों

द्वारा उज्जयिनी नगरी के प्रजाजन व्रताचरण शील, दान, पूजा आदि द्वारा निरन्तर धर्मसाधना में लीन रहते थे। धर्मसाधना के फल से ही श्रीमन्त चतुर लोगों के बड़े-बड़े महलों में पैंड पैंड पर सम्पदाएँ बिछी रहती हैं।

ऐसी विभूतिवाली इस उज्जयिनी नगरी का धर्म में चित्त रखनेवाला वृषभांक नामक राजा था, जो श्रेष्ठ धर्माचरणों, जिनेन्द्र पूजा, मुनिसेवा आदि द्वारा कीर्ति, कान्ति और श्रेष्ठ लक्षणों से सहित धर्म की मूर्ति के समान सुशोभित होता था। इसी नगरी में पुण्यवानरूप समस्त लक्षणों से सुशोभित, धर्मकर्म में अगुआ, सुरेन्द्रदत्त नाम का महान धनी सेठ रहता था। वह श्रावकोत्तम सदा शीलव्रत, उपवास, पात्रदान, जिनपूजा आदि द्वारा पुण्य की मूर्ति के समान लगता था। इस सेठ के महान रूपवती, सुखकारक, प्रेमपात्र और मनोहर यशोभद्रा नामक स्त्री थी। पुण्य के उदय से इनके घर में सुवर्ण, चाँदी, परिवार, कुटुम्ब आदि सभी प्रकार की विभूतियाँ थीं परन्तु केवल कुलदीपक कोई पुत्र नहीं था।

यशोभद्रा को इस बात की हृदय में बड़ी भारी वेदना थी कि मेरे घर में सब प्रकार की सम्पदाओं के होते हुए भी कोई पुत्र नहीं है। एक दिन मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारी श्रेष्ठ मुनि वर्धमान नामक मुनिराज विहार करते-करते नगरी के उद्यान में पधारे। ये महामुनि जगत के हितैषी, जगत्पूज्य, देव, मुनि, मानव और सबसे पूजित थे, जो धर्मात्माओं के धर्म की प्रेरणा होने पर ही प्राप्त हो सकते थे।

जब उज्जयिनी नगरी के राजा श्रीवृषभांक को यह विदित हुआ कि नगर के बाहरी उद्यान में मुनिराज का आगमन हुआ है तो उसने सूचना के लिये नगर में डोंडी पिटवाई और हर्षपूर्वक सैनिकजनों

के साथ मुनि वन्दनार्थ प्रस्थान किया। डोंडी की आवाज सुन यशोभद्रा सेठानी ने अपनी सखी से पूछा कि यह डोंडी क्यों पिटी है, इसका कारण जानकर बतलाओ। सखी ने उत्तर दिया कि नगरोद्यान में मुनिराज पधारे हैं, सो राजा ने जनता के सूचनार्थ भेरी (डोंडी) बजवाई है और उनकी वन्दना के लिये स्वयं ठाठबाट से जा रहा है।

यशोभद्रा अपनी सखी की यह बात सुन पूजा की सामग्री तैयार कर अपने हाथ में ले अपनी अभीष्ट की सिद्धि के लिये मुनिराज के दर्शनार्थ गयी। उद्यान के प्रासुक भाग में मुनीन्द्र को विराजमान देखकर राजा आदि सभी ने वन्दना-पूजा की और यशोभद्रा भी वन्दना-पूजा कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गई। मुनिराज के मुख से इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरादि की सम्पदा / विभूति देनेवाले स्वर्ग—मोक्षदाता गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का व्याख्यान जो कि दयाप्रधान और जगत् का कल्याण करनेवाला है; सुनकर, सिर झुकाकर नमस्कार कर यशोभद्रा सेठानी ने मुनिराज से प्रश्न किया कि हे प्रभो! आप यह बतलाइये कि मेरे पुत्र होगा या नहीं? यह प्रश्न सुन मुनिराज बोले कि—महान धीर, दिव्यरूपधारी, गुणों का समुद्र, महान भागी, जगत में मान्य, सम्पूर्ण कार्यों के करने में समर्थ ऐसा पुत्र तेरे गर्भ से अवश्य जन्म लेगा, किन्तु तेरा पति सुरेन्द्रदत्त संसार के भोगों से अत्यन्त विरक्त होकर तपोवन जाना चाहते हुआ भी लक्ष्मी आदि के मोह के कारण पुत्र के अभाव से तब तक ही घर में रहेगा, जब तक कि वह अपने पुत्र का मुख न देख लेगा। पुत्र का मुख देखते ही वह श्रेष्ठ गुणों की खान सेठ तुझको तथा सम्पूर्ण लक्ष्मी को छोड़कर तपोवन जाकर

संयम ग्रहण कर लेगा और तेरा वह भावी पुत्र भी इतना धर्मात्मा होगा कि तब तक ही घर में रहेगा, जब तक वह मुनिराज के वचनों को अपने कान से नहीं सुन लेगा। मुनिराज के केवल दर्शन तथा वचन के सुनने से ही धीर-वीर पुरुषों के योग्य दुर्धर तप को अंगीकार कर लेगा।

इस प्रकार मुनिराज से अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर यशोभद्रा सेठानी इष्ट और अनिष्ट दोनों के वश हर्ष और विषाद से युक्त हो गयी। शुभ पुण्योदय से थोड़े ही दिनों बाद उसे गर्भ रह गया किन्तु सेठानी यशोभद्रा चाहती थी कि गर्भाधान और पुत्रोत्पत्ति की बात को घर में कोई भी न जान सके। उसे डर था कि मेरे पति पुत्रमुख देखते ही तप ग्रहण कर लेंगे, इसलिए इनसे भी छिपाना चाहिए। वह सेठानी घर के एक कोने में बैठी रहती और किसी को गर्भाधान की बात तक ज्ञात नहीं होने देती। नौ महीने पूर्ण हो जाने पर अपने दिव्य भूमिगृह (जमीन के अन्दर का घर) में जाकर उसने देदीप्यमान भाग्यशाली पुत्र को जन्म दिया।

जब अपवित्रता से भरे प्रसूतिवस्त्रों को सेठानी की नौकरानी घर के बाहर धोने को ले गयी और उन वस्त्रों को धो रही थी, तब किसी ब्राह्मण ने देखकर हृदय में विचार किया कि सेठ पुत्रहीन था, सो आज उसके पुत्र हुआ; इसी कारण यह नौकरानी इन वस्त्रों को धोने लायी है—उसने अपने सिर की बोरी हाथ से बाँधकर सेठजी के पास जाकर कहा कि सेठजी! आपके महान पुण्य से आपके निश्चय से पुत्र ही हुआ है। सेठ ने उस ब्राह्मण से यह शुभ समाचार सुन हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हो, सेठानी के पास जा पुत्र के मुख का अवलोकन किया और उस ब्राह्मण को बधाई में इनाम के रूप में

बहुत ही सम्पदा दी और सारी लक्ष्मी को गले तृण के समान समझकर छोड़ता हुआ वह सेठ तपश्चरण के लिये उसी समय वन में चला गया। वहाँ श्रीगुरु चरणों के कमलों को नमस्कार कर, मन-वचन-काय की शुद्धि से अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह छोड़ मुक्ति के लिये हर्षपूर्वक गुरु से दीक्षा की याचना की और गुरुराज ने दीक्षा प्रदान कर दी। इसके बाद उस श्रेष्ठबुद्धि ने संयमपूर्वक अपना पराक्रम प्रगट करके मोक्षकल्याण के देनेवाले तपश्चरण का करना प्रारम्भ किया।

यशोभद्रा ने पुत्र जन्मोत्सव की प्रसन्नता में जिनालय में जिनेन्द्रदेव की महोत्सव और ठाटबाट से पूजा की, अपने कुटुम्बीजनों को तृप्त किया, नाना प्रकार के दान दिये, बाजे नृत्य-गान आदि द्वारा बन्धुजनों का सत्कार करते हुए पुत्र जन्मोत्सव बड़े आनंद के साथ मनाया। पुत्र जन्मोत्सव के दूसरे दिन यशोभद्रा ने अपने पुत्र का नाम अत्यन्त कोमल अंग होने से समस्त बन्धुजनों के समक्ष सुकुमार (सुकुमाल) रखा। नामकरण संस्कार के बाद जिनालय में महोत्सवपूर्वक बड़े उत्साह और ठाठ से जिनेन्द्रदेवाधिदेव की पूजा की। वह सुकुमाल बालक अर्थात् द्वितिया के चन्द्रमा के समान अत्यन्त सुन्दर, नेत्रों को आनन्द देनेवाला दैदीप्यमान कान्ति समूह के साथ-साथ गुणों और शरीर के अवयवों से बढ़ने लगा। वह सुकुमार बालक अपने शरीर के योग्य मधुर दुग्धपानादि, तथा आभूषणों और वस्त्रों से लोकप्रिय लगता हुआ बड़ा होने लगा। स्वभाव से ही सुन्दर रूप का धारक, अत्यंत मनोहरांग अपनी मन्द हास्य (मुस्कान) पूर्ण चेष्टाओं से माता आदि कुटुम्बीजनों को आनन्दित करता था। वह सुकुमाल बालक दिव्य लक्षणों और आभूषणादि तथा शरीर की

कान्ति तेज आदि से कुमार अवस्था में देवकुमार के समान सोहता था।

सुकुमाल की माता सदैव चित्त में इस बात की चिन्ता रखती थी कि मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ कि यह कभी मुनिराज का दर्शन न कर ले। उसे मुनिराजों के इस वाक्य में विश्वास था कि यह मुनिदर्शन प्राप्त करते ही तप स्वीकार कर लेगा, इसलिए मुनिदर्शन से बचाने के लिये उसकी माता यशोभद्रा ने नाना प्रकार के रत्नों से जड़ा हुआ स्वर्णमयी ऊँचा एक सर्वतोभद्र महल तैयार कराया। उसके चारों तरफ बड़ी लागत से चाँदी के बत्तीस छोटे महल और बनवाये। उस महल के चारों ओर द्वारपाल नियुक्त कर दिये और मोहनीय कर्म से अन्धी हुई उसने महल के चारों तरफ मुनिराजों के आने की मनाही (निषेध) करा दी। सो ठीक ही हे कि जिनके चित्त महामोह से अन्धे हो रहे हैं, उनको कुछ विचार नहीं रहता और जिनको कार्य-अकार्य का विचार नहीं रहता, उनको धर्म की प्राप्ति कैसे हो?

वह सुकुमाल अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा तथा आमोद-प्रमोद करता हुआ रात-दिन के भेद को नहीं जानता था; न मनुष्य आदि के जाति भेद को जानता था; न उसे सर्दी-गर्मी आदि की बाधा ही मालूम पड़ती थी—वह सम्पूर्ण दु:खों से रहित और सुख में मग्न स्वर्ग में इन्द्र की तरह रहने लगा। वह सुकुमाल अब युवा हो गया —यौवन के समस्त प्रकार के लक्षणों से सुशोभित, कान्ति तेज कला, आलाप, महान लावण्य और सुन्दरता आदि से मनोहर देव की तरह वह सुन्दर दीखने लगा। यशोभद्रा ने सुकुमाल को विवाह योग्य जानकर चतुरिका, चित्रा, रेवती, पद्मिनी, मणिमाला, सुशीला, रोहणी, सुलोचना, सुदामा आदि 32 सेठ कन्याओं के पिता सेठों

को पुत्र के विवाहार्थ बुलाया। यशोभद्रा ने अपने घर पर ही उन कन्याओं से विवाह करने का निश्चयकर विवाह मण्डप तैयार कराया और बड़े भारी वैभव तथा ठाठ-बाट के साथ उस सर्वतोभद्र महल पर ही विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न किया। विवाह मण्डप के बाहर भी गीत, नृत्य, वादित्र आदि से बड़ा उत्सव हो रहा था। विवाह कार्य में जो बन्धुजन उपस्थित हुए थे, वे सभी आनन्द में मग्न थे।

सुकुमाल की माता श्री यशोभद्रा ने सुकुमाल के विवाह के बाद बत्तीसों पुत्रवधुओं को एक-एक महल सूखपूर्वक रहने के लिये दे दिये। ये बत्तीस महल वे ही हैं जो पहिले इसने रूप्यमयी बनाये थे। वह सुकुमाल उन रूप लावण्य की खान, पुण्यवान स्त्रियों के साथ निरन्तर विषयभोग भोगता हुआ सर्वथा चिन्तारहित हो इन्द्र के समान सुख के समुद्र में मग्न होकर बीते हुए काल को भी न जानता था।

एक दिन एक परदेशी व्यापारी रत्नों से जड़ा हुआ एक शाल (रत्नकम्बल) बेचने के लिये लाया और उसे उस नगरी के राजा वृषभांक को दिखलाया। यह शाल बहुत मूल्य का था। व्यापारी ने जो उसका मूल्य माँगा, उसे देने में राजा असमर्थ था; इसलिए वापस ही दे दिया। तब उस व्यापारी सेठ ने वह रत्नकम्बल उस महान धनाढ्य सेठानी यशोभद्रा को खरीदने के लिये दिखलाया। यशोभद्रा सेठानी को रत्नकम्बल पसन्द आ गया, उस व्यापारी सेठ ने जितना भी उसका मूल्य माँगा, बदले में देकर वह रत्नकम्बल ले लिया और अपने पुत्र सुकुमार के उपयोग के योग्य जानकर उसे दे दिया। श्री सुकुमाल ने उसे देखकर तथा हाथ लगाकर जब यह

जाना कि यह तो महान कठिन (कड़ा) होने से मेरे उपयोग के लायक नहीं है, छोड़ दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कराकर उन टुकड़ों से अपनी बत्तीस स्त्रियों के पाँवों में जो जूतियाँ थी, उनमें उन रत्नों को जड़वा दिया अर्थात् उस रत्नकम्बल की जूतियाँ बनवा दीं। इन बत्तीस स्त्रियों में जो सुदामा नामक स्त्री थी, वह रत्नजड़ित जूतियों को पहनकर अपने महल के ऊपर चली गयी- वहाँ थोड़ी देर तक तो बैठी रही और जब आने लगी तो पश्चिम द्वारमण्डप में उन खुली हुई जूतियों को भूल आयी और अपने महल में आ गयी। महल की छत पर पड़ी हुई जूतियों को माँस समझकर एक गिद्ध उठा ले गया और राजा वृषभांक के बहुत ऊँचे महल पर ले जाकर उसमें खाने के लिये चौंच मारी। कठोर रत्न था, कैसे खाया जाता ? गिद्ध ने खाने का यत्न बहुत किया परन्तु जब वह न खा सका तो उसे क्रोध आया और उसने वहीं उसे डाल दिया। समय पाकर राजा ने उस रत्नकम्बल से अंकित जूती को जब वहाँ पड़े हुए देखा तो आश्चर्य में मग्न होकर पूछा कि यह सुन्दर जूती किसकी है ? इस प्रकार पूछने पर राजा को उत्तर मिला कि महान लक्ष्मी और सौख्य के धारक सुकुमाल की स्त्री की यह जूती (पगरखी) है। राजा को यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसे सुकुमाल को देखने की बड़ी इच्छा हुई। वह उससे मिलने के लिये उसी समय चल पड़ा। जब यशोभद्रा (सुकुमाल की माता) को विदित हुआ कि स्वयं राजा वृषभांक यहाँ आ रहे हैं तो उसने बड़े भारी ठाट-बाट से राजा को स्वागत समारोह के साथ अपने घर में प्रवेश कराया। स्वर्णमयी सिंहासन लगाकर उस पर बिठलाया और राजा को नजर भेंटकर पूछा कि—आज आपने

यहाँ पधारकर मेरा घर पवित्र कर दिया है—कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि आपके यहाँ पधारने का क्या कारण है ?

राजा वृषभांक ने कहा कि मैं तुम्हारे पुत्र से मिलने के लिये ही यहाँ आया हूँ और कोई कारण नहीं है।

यशोभद्रा ने राजा के मान-सम्मान सत्कार की व्यवस्था करके अपने पुत्र सुकुमाल को बुलाया और राजा से मुलाकात करायी। राजा ने उस दिव्य रूपधारी सुकुमाल के रूप के अतिशय को देखकर प्रभावित हो अपने आसन के आधे भाग पर उसे बिठलाया और बड़ा प्रसन्न हुआ।

यशोभद्रा ने इसके बाद राजा से प्रार्थना की कि महाराज! आज मेरे इस घर पर ही आपको भोजन ग्रहण करना पड़ेगा—मेरी इस प्रार्थना को आपको स्वीकार करना ही होगा। राजा ने वहीं भोजन करना स्वीकार कर लिया। राजा ने सुकुमाल श्रेष्ठिपुत्र के साथ सुवर्ण पात्रों में भोजन किया।

भोजन के बाद राजा ने सेठानी यशोभद्रा से कहा कि तुम्हारे पुत्र सुकुमाल को तीन रोग हैं—जिनका तुमको इलाज कराना चाहिए। तुमने इन रोगों की उपेक्षा किस प्रकार कर रखी है ?

राजा की यह बात सुनकर यशोभद्रा ने कहा कि महाराज! वे तीन व्याधियाँ कौन सी हैं, बतलाने की कृपा करें।

राजा ने फिर कहा कि इसके तीन व्याधियाँ ये हैं कि—एक तो इसका आसन स्थिर नहीं, किन्तु चलायमान रहता है; दूसरे इसकी आँखों में से पानी आता है; तीसरे यह एक-एक चावल उठाकर खाता है।

राजा के द्वारा बतलायी हुई इन तीन व्याधियों की बात सुनकर यशोभद्रा ने कहा कि महाराज! ये तीनों ही जो आप व्याधि बतलाते हैं, व्याधियाँ नहीं हैं।

सुकुमाल की माता यशोभद्रा ने राजा को बतलाया कि महाराज! यह मेरा पुत्र सुकुमाल सदैव अत्यन्त कोमल दिव्य शय्या पर ही सोता है और वैसी ही गद्दी पर बैठता है। आज जो यह आपके साथ इस सिंहासन पर बैठा है और हमने मंगलस्वरूप आप पर सरसों डाली है, उन सरसों में से कुछ इस आसन पर भी गिर गई है जो इस मेरे अतिकोमलांग पुत्र सुकुमाल के चुभ रही हैं, उस कठोरता से इसका आसन चलायमान हो रहा है। अतएव यह रोग नहीं है। आँखों में पानी आने का कारण यह है कि यह सुकुमाल सदैव रत्नों के दीपक के प्रकाश में ही रहता है, इसने रत्नों की प्रभा के अतिरिक्त दूसरी कोई प्रभा देखी ही नहीं। आज आप जो यहाँ पधारे हैं, सो आपकी मंगलस्वरूप आरती उतारी गयी है, जिसमें घृत जलाया गया है, सो इस प्रभा के कारण इसके नेत्रों में पानी आ गया है क्योंकि इसके नेत्र ऐसी तेज प्रभा सहन नहीं कर सकते। चावल एक-एक खाने का कारण यह है कि जो यह चावल खाया करता है, उनको सूर्यास्त के समय सरोवर में गीली कमल की कली में रख दिये जाते हैं, जब चावल अत्यंत सुगन्धित और कोमल हो जाते हैं, तब प्रात:काल उनको धोकर बनाये जाते हैं परन्तु आज आपके पधारने से कुछ अधिक चावलों की आवश्यकता थी, इसलिए उन चावलों में कुछ साधारण चावल भी मिला दिये थे, सो इन सबको खाने में इसकी अरुचि थी; इसलिए अरुचिपूर्वक एक -एक उठाकर खाता था। अत: राजन्! जिनको आपने बीमारी समझा, वह बीमारी नहीं हैं।

राजा को यशोभद्रा के द्वारा कही हुई बातें सुनकर बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। राजा को सेठानी ने रत्नाभूषण वस्त्रादि भेंट देकर विदा करते हुए स्तुति की। राजा ने भी उस सुकुमार का नाम अवन्ति सुकुमार (सारी पृथ्वी पर कोमल-नाजुक) रख दिया और आनन्दपूर्वक अपने महलों में चला गया। अब इस अवन्ति सुकुमार की तीन लोक में कीर्ति फैल गयी और यह अपने पुण्योदय से नाना प्रकार के भोग भोगता रहा।

इस प्रकार वह सुकुमाल श्रेष्ठिपुत्र पुण्योदय से महान दु:ख से रहित, अनुपम, दिव्य भोगों उपभोगों को भोगता हुआ अपार लक्ष्मी का पात्र होकर—राजाओं से भी सम्मानित हुआ। इसलिए अत्यन्त निपुण सुखाभिलाषी मनुष्यों को उचित है कि मन-वचन-काय की विशुद्धि से जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए धर्म की शक्ति को न छिपाकर साधना करें। धर्म के प्रभाव से ही तीन जगत में उत्पन्न होनेवाली इन्द्र, तीर्थंकरादि की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं और जो जिनेन्द्र प्रणीत धर्म का सेवन करते हैं, वे क्रम से अनन्त सुखों की खान मोक्ष सुखों को भी प्राप्त कर लेते हैं।

अष्टम सर्ग

तीन जगत के पूज्य, तीन जगत के गुरु और तीन जगत के स्वामियों से सेवित चरण पंच परमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

एक दिन श्री सुकुमाल का मामा धर्मबुद्धि, जगत हितैषी यशोभद्र महामुनिराज ने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि अब सुकुमाल की आयु बहुत थोड़ी रह गयी है। पूर्व जन्म से चले आये सम्बन्ध से महा मुनिराज ने श्री सुकुमाल के हित के लिये विचार किया कि अहो! धर्म की साधना के बिना इसकी इतनी दुर्लभ आयु यों ही चली गयी। अब इसकी आयु जो कि तप और धर्म के लिये कारण है, बहुत थोड़ी रह गयी है परन्तु इसके घर पर तो माता के मोह से कोई संयमी साधु जा नहीं सकता; इसलिए किसी अन्य ही श्रेष्ठ उपाय से मैं इसे संयम का ग्रहण कराऊँगा।

यह विचारकर श्री यशोभद्र महाराज ने उसे सम्बोधन करने के लिये चातुर्मास योग ग्रहण करने के श्रेष्ठ दिन, जो उस सुकुमाल के महल के निकट उद्यान में देदीप्यमान और ऊँचा जिनमंदिर था, वहाँ पदार्पण किया। जब मुनिराज श्री जिनमंदिर आ विराजे तो उस उद्यान के वनपाल ने सुकुमाल की माता यशोभद्रा से जाकर निवेदन किया कि जिनालय में महामुनि पधारे हैं। वनपाल के द्वारा यह सूचना सुनकर यशोभद्रा जिनालय पहुँची और भगवान तथा अपने भ्राता यशोभद्र मुनिराज को नमस्कार कर बोली कि स्वामिन्! मेरे प्राणों से भी प्यारा यह एक ही पुत्र है। यदि वह आपके शब्द भी सुन लेगा तो जिनदीक्षा लेकर तपस्वी बन जाएगा, जो मेरे बड़े भारी आर्तध्यान का कारण होगा कि जिससे मेरी मृत्यु भी हो सकती है;

इसलिए आप दया करके यहाँ से और किसी जगह शीघ्र ही पधार जाइये और यहाँ न ठहरिये।

श्री यशोभद्र मुनिराज ने उत्तर दिया कि आज हमारा चातुर्मास योग का यह दिन है, इसलिए जीव दया पालन करनेवाले हम लोगों के लिये अब कहीं भी जाना उचित नहीं। यदि चातुर्मासिक योग का दिन न होता तो चला जाता परन्तु अब तो यही पर ठहरना होगा। इस प्रकार वे सम्पूर्ण बहिरंग-अन्तरंग ममत्व के त्यागी महा मुनिराज ठूंठ के समान निश्चल हो प्रतिमायोग धारण कर ध्यानस्थ हो गये। और वहीं उन धीर-वीर निपुण मुनिराज ने कायोत्सर्ग और आत्मतत्त्व के ध्यान से चार महीने पूर्ण कर कार्तिक शुक्ल पूर्णमासी के दिन रात्रि के चौथे पहर में उस चातुर्मासयोग की क्रिया पूर्ण की।

श्री यशोभद्र महाराज ने जब अपने ज्ञाननेत्र से यह जान लिया कि सुकुमाल की आँख खुल गयी है तो उसे बुलाने के लिये सम्पूर्ण तीन लोक की प्रज्ञप्ति का अपनी वाणी से वर्णन करना प्रारम्भ किया। पहले तो वैराग्यभावों के उपजाने के लिये अधोलोक (नरकलोक) के दु:खों का वर्णन किया और पश्चात् मध्यलोक का वर्णन करके अच्युत स्वर्ग के पद्मगुल्म विमान में पद्मनाभ देव की महाविभूति और सम्पदा को अपनी वाणी से वर्णन किया, जिसके सुनने मात्र से सुकुमाल को जातिस्मरण हो गया। सुकुमाल को अपने सारे पुराने भवों की घटना का ज्ञान हो गया। उसने इन्द्रिय सुखों और संसार से वैराग्यभाव धारण कर विरक्त चित्त हो विचार किया कि—

अहो! यह मेरी आत्मा उपमारहित स्वर्गजनित बड़े भारी सुखों के चिरकाल तक भोगने से ही जब तृप्त न हुई तो दु:खों से मिले

हुए, पराधीन, शारीरिक परिश्रम से उत्पन्न, निन्दनीय, अन्तर में बुरे परिणामवाले मनुष्य पर्याय के सुखों से कैसे तृप्त होगी ? चाहे ईंधन से किसी दैव संयोग से अग्नि तृप्त हो जाए, समुद्र बहुत नदियों के प्रवाह के अपने में गिरने से तृप्त हो जाए, धन संग्रह से लोभी भी तृप्त हो जाए परन्तु यह आत्मा अनन्त जन्मों तक तीन लोक के विषय सुन्दर-सुन्दर भोगता रहे तो भी तृप्त नहीं होता। जो भोगजनित सुखों से अपने इन्द्रिय सुखों की तृप्ति चाहते हैं, वे अपथ्य सेवन करके भी रोग का नाश चाहते हैं अथवा अग्नि में तैल डालते रहकर भी आग बुझाना चाहते हैं। विषयों की पीड़ा की शांति के लिये जिस शरीर के द्वारा ये भोग भोगे जाते हैं, वह शरीर तो अत्यंत निःसार, चलायमान और मल, मूत्र, विष्ठा आदि से भरा हुआ है। मैंने इतने समय तक इस शरीर को वृथा ही पाला-पोषा। वास्तव में मैं महान मूर्ख हूँ, जिसने तपश्चरण के बिना भोगोपभोग में मैंने इतना अधिक समय खो दिया। यह शरीर भीतर से महान वीभत्स घिनावना और गन्दा मैला है, इसमें मलमूत्र रुधिर आदि मलिन चीज़ें ही तो भरी हुई हैं किन्तु ऊपर से वस्त्राभूषणादि से यह लिपटा होने से सुन्दर दिखता है। सुकुमाल विचारता है कि आजतक तो मैं सो ही रहा था, अब जगा हूँ, सो जगत में निन्दनीय इस शरीर को तपरूपी अग्नि से सुखाकर इसके द्वारा मोक्षलक्ष्मी की साधना करूँगा। पुरुषों को डसने के लिये सर्पिणी के समान, काले पापों की खानें, अपवित्र, चंचल, निन्दनीय, नरक में पहुँचाने के लिये पाँवों में बेडी के समान ये सब स्त्रियें हैं। जेलखाने के समान खोटा, विद्वानों द्वारा निन्दनीय, अनन्त दुःखों और पापों की खान, धर्म को नष्ट करनेवाला यह गृहस्थाश्रम है। ये जो भी सुख सम्पदाएँ दीखती हैं, सो अत्यन्त चलायमान, मोह की माताओं के समान, सम्पूर्ण

अनर्थों की करनेवाली, दु:खों की मूल और विपदास्वरूप हैं। यह सारा कुटुम्ब पाप की प्रेरणा करनेवाला, निन्दनीय, विषम, गली सांकल के समान और धर्म का नाशक है। यह यौवन बुढ़ापे की दाढ़ में है और यह आयु यमराज के मुख में है और यह संसार सुख-दु:खों के भार से दबा हुआ है। यह संसार क्षणभंगुर है। ये स्पर्शन, रसनादि पाँचों इन्द्रियाँ धर्मरूपी रत्न को चुरानेवाले चोरों के समान हैं। समस्त अनर्थों के करनेवाले असाध्य शत्रुओं के समान ये क्रोधादि कषाय हैं। मैं इतने दिन तक इस घररूप जेलखाने में स्त्रियोंरूपी बेडियों से बँधा हुआ और सम्पदारूपी फाँसी से लिपटा हुआ वृथा ही पड़ा रहा। मैं आज इन योगिराज के उत्तम वचनों के सुनने से जागृत हुआ हूँ, सो इस मोहरूपी फाँसी को काटकर शीघ्र ही मुनिसंयम को धारण करूँगा। जब तक यह मेरी आयु क्षीण न हो जाए; जब तक बुढ़ापा न आ जाए; जब तक ये इन्द्रियाँ काम देती रहें, तब तक ही मैं अपना हित जो तपश्चरण है, उसे कर सकता हूँ, पीछे तो क्या है ? जब तक यह मेरी बुद्धि काम दे रही है और जब तक शरीर में दृढ़ता और यौवन है, तब तक ही स्वर्ग और मोक्ष की साधना करनेवाला तप हो सकता है, पीछे तो क्या है ? सो मैं आज प्रात:काल ही अपने लिये स्वर्ग-मोक्ष का साधनरूप उपाय कर लूँगा और कुछ दिनों के बाद ही अपना कार्य सिद्ध कर लूँगा। जो नरभव पाकर भी अपना यह महाकार्य सिद्ध नहीं करते, उनका यमरूपी शत्रु ने गला पकड़ रखा है और वे दुर्भाग्य से क्षणमात्र में ही दुर्गतिरूपी समुद्र में गिर जाते हैं।

इस प्रकार के विचार से सुकुमाल के हृदय में संसार के सुख काम भोगादि तथा घर, स्त्री आदि सबसे और भी दूना वैराग्य हो गया। सुकुमाल ने विचार किया कि इस महल से निकलने का मुझे

इस समय कोई उपाय नहीं दिख रहा है। क्योंकि यह महल पर्याप्त ऊँचा है और इसके द्वार के बड़े मजबूत बन्द किवाड़ हैं परन्तु वह वैराग्य के लिये तत्पर, तपश्चरण में तैयार था, सो उसने वहाँ से उतरने के उपाय की खोज में लगकर एक कपड़े की गाँठ देखी। सुकुमाल ने उस कपड़े की गाँठ में से कपड़े निकालकर उनके आपस में गाँठे देकर लम्बा रस्सा सरीखा बनाकर खम्भे के बाँधकर लटका दिया और उसे पकड़कर वह नीचे जमीन पर उतरकर मुनिराज यशोभद्र महाराज के पास जा पहुँचा। मुनिराज को तीन प्रदक्षिणा दे, मस्तक झुकाकर नमस्कार कर अपने हृदय पर जोड़े हुए दोनों हाथ धर संयम प्रदान करने की प्रार्थना की और कहा कि भगवन! विषयों में आसक्ति के कारण संयम और तपश्चरण के आचरण के बिना मेरे इतने दिन वृथा ही चले गये। अब आपके प्रसाद से आपका वचनरूपी अमृत मुझे पीने को मिल गया, सो मेरा मोहरूपी विष उतर गया और मैं जाग गया हूँ। अब आप कृपा करके मुक्ति की मातास्वरूप जिन दीक्षा मुझे प्रदान करने की कृपा कीजिए क्योंकि इसी से कल्याण का लाभ होगा और यही कल्याण की खान भी है।

सुकुमाल की यह प्रार्थना सुन यशोभद्र महाराज बोले कि भद्र! तुमने यह बहुत ही सुन्दर विचार किया है क्योंकि अब तुम्हारी आयु केवल तीन दिन की ही शेष रह गयी है। श्री सुकुमाल ने मुनिराज के मुख से यह बात सुन उसी समय समस्त अन्तरंग -बहिरंग परिग्रह का त्यागकर जिनमुद्रा ग्रहण कर ली और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय—इस प्रकार चारों प्रकार के आहार का भी त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। प्रात:काल ही संन्यास धारण किये हुए श्रेष्ठ ध्यान की आराधना के लिये वह दूसरे वन में चला गया।

मनोज्ञ किन्तु अत्यन्त भयानक निर्जन प्रदेश में देह में सब प्रकार का ममत्व छोड़ एक पाँव से अपने निश्चल शरीर को पृथ्वी पर खड़ा कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया।

संन्यास तीन प्रकार का होता है—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। इन तीनों में ही चारों प्रकार के आहार का त्याग तो होता ही है परन्तु भक्तप्रत्याख्यान संन्यास में देह का स्वयं तथा दूसरे से भी बाहरी उपचार कराया जा सकता है। इंगिनी संन्यास में अपने शरीर का आप स्वयं मर्दनादि कर सकता है—दूसरे द्वारा नहीं, किन्तु प्रायोपगमन संन्यास में स्वकृत-परकृत दोनों ही उपचार नहीं किये जाते। ऐसा कठोर प्रायोगपगमन संन्यास श्री सुकुमाल मुनिराज ने धारण किया। यशोभद्र मुनिराज भी चातुर्मासयोग की समाप्ति हो जाने पर संक्लेश निवारणार्थ उस जिनागार से दूसरे जिनागार में चले गये।

❀ ❀ ❀

सुकुमालजी तो किसी को कुछ न कहकर मुनि हो गये और वन में जाकर संन्यास भी उन्होंने ग्रहण कर लिया। उधर महलों में जब इनकी ३२ स्त्रियों ने अपने पति सुकुमालजी को नहीं देखा—इधर-उधर खोज भी की, जब वे नहीं मिले तो उन्होंने शोक और दु:ख से व्याकुलित होकर अपनी सास अर्थात् सुकुमाल की माता यशोभद्रा से कहा कि—माताजी! आपका पुत्र व हमारे प्राणाधार दीखते नहीं, महल से कहाँ चले गये, सो मालूम नहीं होता। यशोभद्रा सुकुमाल की माता ने ये समाचार सुन मूर्छित हो महान शोक के भार से मुर्दे की तरह हो हा-हा करते हुए रुदन प्रारंभ कर दिया। सारे स्वजन बन्धुजन भी रोने लगे और वे ३२ स्त्रियाँ भी रोने

पीटने लगीं। जब उनका कुछ शीतोपचार किया और उनको होश अया तो उसे खोजना-ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। यशोभद्रा इधर-उधर ढूँढ़ती हुई शोक से व्याकुलित हो रही थी कि उसे खम्भों से लटकती हुई वस्त्रमाला दिखी। उसने रस्सी के रूप में उस वस्त्रमाला को देख यह जान लिया कि इसको पकड़कर मेरा पुत्र नीचे उतरा है और निश्चय किया कि मेरे पुत्र सुकुमाल को वह मुनि ही, जो कि जिन चैत्यालय में ठहरा है, ले गया है, सो वह जिन चैत्यालय को गयी। जब उस जिनालय में उन मुनिराज श्री यशोभद्र को भी नहीं देखा तो बन्धुजनों के साथ शोकाकुलित हो समस्त स्थानों पर ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। जब इस बात की सूचना राजा को मिली तो राजा ने भी अपने समस्त लोगों को आज्ञा दी कि सुकुमाल को खोजने के कार्य में सभी लोग जुट जावें। सभी लोगों ने बड़े भारी प्रयत्न और लगन से सुकुमाल को ढूँढ़ा परन्तु वह न मिला क्योंकि वह तो ऐसे गुप्त स्थान में था, जिसका पता बड़ी भारी कठिनता से ही चले।

जिस समय सुकुमालजी अपने महल से निकल गये, उसी दिन से नगर में मनुष्यों ने तो क्या, पशुओं तक ने खाना-पीना सब छोड़ दिया। माता, बन्धुजन तथा स्त्रीजन आदि को जो दु:ख शोक हुआ, उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता क्योंकि वह इतना ही अन्तरंग में सन्तापकारक शोक था।

इधर तो समस्त कुटुम्बीजन शोकसागर में मग्न हो रहे थे, उधर सुकुमाल स्वामी निर्जन वन प्रदेश में हलन-चलनरहित ठूँठ के समान खड़े हुए, विद्वान, निर्मल आशयवाले, अपने शरीर के वैयावृत्त्य में स्वयं भी निरपेक्ष, कर्मबन्धन काटने में उद्यमी, चारों आराधना

के आराधने में तत्पर, बारह भावनाओं के चिन्तवन में लीन, मोक्षमार्ग में चलने में सर्वथा जागृत, एक पाँव से ध्यान धर रहे थे।

इसी समय एक विलक्षण घटना और होती है कि सुकुमालजी की पूर्वभव की भौजाई अग्निभूति ब्राह्मण की स्त्री सोमदत्ता, जिसके मुख पर सुकुमालजी के जीव ने किसी समय लात मारी थी, संसार में अनेक त्रस-स्थावर योनियों में परिभ्रमण कर पापकर्म के उदय से उसी वन में, जिसमें कि सुकुमाल स्वामी ध्यान लगा रहे थे, स्यालनी हो गई थी। जब कोमल अंग के धारी महान कोमलांग सुकुमालजी वन में आये थे तो उनके अत्यंत कोमल पाँवों में से रुधिर की धारा वह चली थी। कहाँ तो वह नाजुकपना जबकि सरसों के दाने भी चुभते थे और कहाँ यह संयम धारण!! सो सुकुमाल स्वामी के पाँवों से निकली रुधिर धारा को उस पापिनी स्यालिनी ने चाटा तो उसे रुधिर का स्वाद आ गया था, सो वह सुकुमाल स्वामी को निश्चल खड़ा देख पूर्वजन्म के क्रोध और निदान के दोष से सुकुमाल स्वामी के दाहिने पाँव में लग उसे क्रोधित हो खाने लगी। उस स्यालनी की जो पिल्ली (बेटी) थी, वह भी उसकी तरह बांये पाँव को खाने लग गयी। जब सुकुमालजी के पाँवों को इस प्रकार धीरे-धीरे नोंच-नोंचकर खाया जाने लगा तो उनके कोमल अंग में तीव्र वेदना हुई। उस वेदना और परीषह उपसर्ग को जीतने के लिये सुकुमालजी ने इन बारह भावनाओं का चिन्तवन किया।

❁ ❁ ❁

अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचित्व भावना, आस्रव भावना, संवर भावना,

निर्जरा भावना, लोक भावना, बोधिदुर्लभ भावना, और धर्म भावना इस प्रकार ये बारह भावनाएँ संवेग की जननी मातायें हैं।

यह शरीर और यौवन यमराजरूपी शत्रु के द्वारा क्षणभंगुर हैं। ये भोग की वस्तुएँ बिजली के समान चंचल और बादलों की छाया के समान हैं। संसार में भ्रमते हुए मैंने अनन्त शरीर धारण कर लिये। अब यह जो मनुष्य शरीर मिला है, वह तो कर्मों के नाश के लिये ही होना चाहिए। नरकों में नारकी जीवों ने अनन्त बार मेरे शरीर के तिल-तिल के बराबर टुकड़े-टुकड़े किये हैं, मैंने असंख्य बार तिर्यंचगति भी धारण की है, जिसमें क्षुधा से पीड़ित क्रूर जीवों ने मेरे शरीर को नोंच-नोंच कर खाये हैं। यह मेरा वर्तमान शरीर कर्मों के नष्ट करने के लिये है; इसलिए उपसर्गों पर विजय करने में ही श्रेष्ठ लाभ होगा क्योंकि जो संसाररूपी शत्रुओं से डरते हैं, वे ही दुष्कर और कठिन तपस्या करते हैं। वास्तव में उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने को ही उत्कृष्ट तप विद्वान लोग कहते हैं। संसार में जो भी राज्य, भोगोपभोग, शरीर, स्त्री, सम्पत्ति, धन आदि वस्तुएँ दिखती हैं वे सब कर्मजनित हैं, वे सब चीज़ें समय पाकर कालरूपी अग्नि से भस्म हो जाती हैं। इस प्रकार समस्त संसार की वस्तुएँ और यह सारा संसार अनित्य है, यही जानकर चतुर लोग उग्र-उग्र कठोर-कठोर तप के द्वारा नित्य जो शिवसुख है, उसकी साधना करते हैं। इस प्रकार अनित्य भावना का चिन्तन किया।

जैसे किसी वन में हिरण को सिंह पकड़ ले तो उस हिरण का कोई शरण (रक्षक) नहीं; उसी प्रकार मृत्यु के मुख में फँसे हुए प्राणी का कोई रक्षक नहीं। चाहे देव, देवेन्द्र, मनुष्य, विद्याधर चक्रवर्ती कोई भी हो, जब उसे यम पकड़ कर ले जाता है तो कोई

बचा नहीं सकता। खोटी पर्यायरूपी वन में भ्रमते हुए मैंने मारण ताड़न छेदन-भेदन आदि करोड़ों कष्ट भोगे हैं। इस समय तो मेरे पाँव ही खाये जा रहे हैं—सो इस उपसर्ग का जीतना कर्म के विनाश, मोक्ष की प्राप्ति तथा संसार कष्टों को नष्ट करने को ही कारण होगा। लोक में सत्पुरुषों पर कृपा और अनुग्रह करने के लिये अरहन्त आदि पंच परमेष्ठी ही समर्थ हैं, अन्य देवी-देवता समर्थ नहीं हो सकते। इस दुर्धर उपसर्ग में विजय ही लाभकारी है। इस प्रकार विचारवान लोग और किसी को शरण न समझ, निर्वाणदाता तपश्चरण और यम-नियमादि से नित्य शरण धर्म को ही रक्षक मान उपसर्गों को जीतते हैं। इस प्रकार अशरण भावना का चिन्तन किया।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनमयी अनादि और अनन्त दु:खों का समुद्र अशुभ और भयंकर संसार है, जिसमें सत्पुरुष क्षणमात्र भी ठहरना नहीं चाहते क्योंकि यह संसार निन्दनीय है। अनादि काल से दुर्गतिपूर्ण संसार में भ्रमण करते हुए मैंने संसार के अन्य प्राणियों से अनेक वेदनायें सही हैं। यह जो मेरे पाँवों को यह स्यालनी और उसके पिल्ले खा रहे हैं, सो तो उन दु:खों और वेदनाओं के सामने कितना सा दु:ख है। इस दु:ख और वेदना का सहना तो मेरे कर्मों के नाशजनित सुख के लिये ही होगा। इस प्रकार सुकुमाल मुनिराज संसार की विचित्रता को विचारते हुए पर्वत के समान निश्चल हो उपसर्ग सहने लगे। इस प्रकार जो सुख के अर्थी होते हैं, वे दु:खों से भरे हुए संसार के स्वरूप को जानकर उससे उदास होते हैं और सुख की खान जो मोक्ष है, उसकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय द्वारा साधना करते हैं। इस प्रकार सुकुमाल मुनिराज ने संसार भावना का चिन्तन किया।

मैं अकेला हूँ, निर्मल हूँ, नित्य हूँ, जन्म-मृत्यु रहित हूँ, समस्त दु:खों से दूर हूँ, महान हूँ, अमूर्त हूँ और अनन्त गुणों का सागर हूँ। ये स्यालनियाँ इस भीरत से दुर्गन्धित शरीर को खाती हैं; मेरे अमूर्त आत्मा को तो खाती ही नहीं हैं; इसलिए कलुषता लाने की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार विद्वान लोग अपने आपको अकेला जानकर अर्थात् यह जीव मरता भी अकेला ही है तो जन्मता भी अकेला ही है, इसका कोई साथी नहीं है-यह निश्चय कर मुक्ति लाभ के लिये एकत्वभावना का चिन्तन करते हैं। इस प्रकार परम ध्यानी सुकुमाल स्वामी ने एकत्वभावना का चिन्तन किया।

यह शरीर महान घृणा का स्थान है। आत्मा से पृथक है और सर्वथा क्षणभंगुर है। मन-वचन-काय, ये सब आत्मा से भिन्न हैं। ये स्यालनियाँ शरीर को खाती हैं; मैं तो शरीर से भिन्न हूँ—मुझे तो खाती ही नहीं, फिर चिन्ता और दु:ख भी क्या है? इस प्रकार तत्त्वज्ञाता बुद्धिमान् लोग शरीर से आत्मा को अन्य जान अपनी आत्मा का ही ध्यान करते हैं। आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शरीर के कष्ट पर आत्मा दु:खी क्यों हो? इस प्रकार श्री सुकुमाल मुनि ने अन्यत्वभावना का चिन्तन किया। यह शरीर क्षुधा-तृषारूपी आग से जल रहा है। काम, क्रोध और रोगरूपी सर्प इसमें भरे हुए हैं। माँस, मज्जा, रुधिर आदि सप्त मलिन धातुओं से भरा हुआ—ऐसा यह शरीर विद्वानों द्वारा कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकता। यह शरीर जेलखाने के समान अशुभ है, जिसे ही तो ये स्यालनियाँ खाकर मुझे इस जेलखाने से छुड़ाती हैं—सो यह तो मेरा लाभ हो रहा है, हानि नहीं। इस प्रकार भेदविज्ञानपूर्ण विचार से वे अत्यन्त धीर-वीर सुकुमाल स्वामी स्यालनियों द्वारा पाँवों के

खाये जाने पर भी संक्लेश को प्राप्त न हो सके और ध्यान में लीन रहे। यह शरीर सम्पूर्ण अपवित्र पदार्थों का खजाना है, यह समझकर चतुर पुरुष अपने को तपश्चरण और संयम में लगाते हुए परम पवित्र मोक्ष की साधना करते हैं। इस प्रकार महामुनिराज ने अशुचित्व भावना का चिन्तवन किया।

जिस प्रकार छिद्रसहित जहाज में बैठनेवाले समुद्र में डूब जाते हैं; उसी प्रकार मिथ्यात्वादि से उत्पन्न दुष्कर्मों के आस्रव आते रहने से यह जीव संसार-समुद्र में डूब जाता है। जिसने तप संयम, ध्यान और क्षमादि द्वारा कर्मों का आस्रव रोक लिया है, उसके सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। संवर और निर्जरा भी होते हैं। यदि मैं इस उपसर्गजनित दु:ख से जरा सा भी अपना हृदय मलिन कर लेता हूँ, तो पापास्रव होता है और अनन्त संसार बढ़ता है, उस संसार में कवियों की वाणी के भी अगोचर तीव्रतर दु:ख भोगना पड़ता है, इस प्रकार विचारकर कल्याण के चाहनेवाले, महान कष्ट भोगते हुए भी विचलित नहीं होते। इस प्रकार आस्रव के महान दोषों को जानकर मन-वचन-काय को रोककर आस्रव को रोका करते हैं। इस प्रकार श्री सुकुमाल मुनिराज ने आस्रव भावना का चिन्तन किया।

कर्मों के आस्रवों के रोकने का नाम ही गुणों का समुद्र संवर है। तपश्चरण, रतनत्रय और श्रेष्ठ ध्यान से महात्माओं के संवर होता है। यदि संवर के साथ थोड़ा भी सदाचरण और तप किया जाए तो उसका बड़ा भारी फल होता है। आगे आनेवाले कर्मों के रोकने के उपाय के बिना कोरा तप लाभकारी नहीं होता। ऐसा दु:सह घोर उपसर्ग होने पर जो धीर-वीर होते हैं, वे एकाग्र मन तथा श्रेष्ठ ध्यान से कर्मों के आस्रव को रोकते हैं। संसार शत्रु का हर्त्ता और सम्पूर्ण

अर्थसिद्धि का दाता ही यह संवर है - ऐसा समझकर जो अविचल रहते हैं, वे ही शिव लाभ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार संवर से उत्पन्न होनेवाले गुणों को जानकर चतुर लोगों का कर्तव्य है कि मन-वचन-काय के निग्रह से संवर करें। इस प्रकार श्री सुकुमाल स्वामी ने संवर भावना का चिन्तन किया।

निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो सभी के होती है और अविपाक निर्जरा योगीजनों के होती है। मुनियों द्वारा तपश्चरण से ही जो होती है, वह अविपाक निर्जरा है, वही गुणों की खान है और वही उपादेय है। सविपाक निर्जरा कर्म से ही उत्पन्न होती है और कर्म बन्धन भी करती है, यदि वह भी संवर के साथ होती है तो मुक्ति के लिये होती है। कर्मविपाक से सविपाक निर्जरा स्वयं होती रहती है, जो अत्यन्त भाग्योदय से पूर्वोपार्जित कर्मों का नाश करनेवाली होती है। परीषह का जीतना ही सर्व-अर्थसिद्धि का प्रदाता है; इसलिए कर्मों की निर्जरा के चाहनेवालों को परीषह उपसर्ग आने पर भी सुमेरु के समान निश्चल होना चाहिए। यह जानकर मुक्ति और श्रेष्ठ गुणों की माता सारभूत निर्जरा को चतुर लोग तपश्चरण के द्वारा मुक्ति के लिये करते हैं। इस प्रकार श्री सुकुमाल स्वामी ने निर्जरा भावना का चिन्तन किया।

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक—ऐसे लोक तीन प्रकार का है, जो शाश्वत (नित्य) और अकृत्रिम है। इन तीन लोकों में दुःख और सुख दोनों हैं। अधोलोक में निरन्तर दुःख ही दुःख है, वहाँ सुख का लेश भी नहीं है। मध्यलोक में कहीं सुख है तो कहीं दुःख है। ऊर्ध्वलोक में जो स्वर्ग विमानादि हैं, उनमें सदा ही सुख

रहता है। ऊर्ध्वलोक के भी ऊपर जो शिवालय (मोक्ष) है, वहाँ तो अनन्त सुख है—वहाँ के सुख की कोई सीमा ही नहीं। यदि वास्तव में देखा जाए तो मोक्ष को छोड़कर यह समस्त लोक ही दु:ख का पात्र है। इसलिए ज्ञानीजन इस लोक से अलग होकर मोक्षलाभ करना चाहते हैं। मैंने अधोलोक (नरकालयों) में तथा तिर्यंच गतियों में कितने मारण, ताड़न, छेदना, भेदनादि दु:ख सहे हैं ? इस प्रकार विचार कर वे सुकुमाल स्वामी उस घोर उपसर्ग में भी व्याकुलतारहित हो स्थिरचित्त और निश्चल रहे। इस प्रकार आगम से दु:ख और सुख से युक्त लोक के स्वरूप को जानकर बुद्धिमान लोग यम, नियम, तप, संयमादि द्वारा मोक्ष की साधना करते हैं। इस प्रकार सुकुमाल मुनिराज ने लोकभावना का चिन्तन किया।

संसार वन में भ्रमते-भ्रमते इस जीव को अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय बड़ी ही कठिनता से मिलती है। मनुष्य पर्याय भी मिल जाए तो आर्यखण्ड का मिलना बड़ा कठिन है। आर्यखण्ड मिल जाने पर भी उत्तम कुल का मिलना कठिन है। उत्तम कुल मिल जाने पर दीर्घायु का प्राप्त होना महान कठिन है। दीर्घायु मिल जाने पर भी निर्मल बुद्धि का मिलना कठिन है। निर्मल बुद्धि भी मिल जाए तो पाँचों इन्द्रियों को सारी सामग्री का मिलना कठिन है। वह भी मिल जाए तो कषाय हीनता कठिन है। ये सब भी मिल जाएँ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति महान दुर्लभ है। यह भी मिल जाए तो श्रेष्ठ वीतराग हितोपदेशी गुरु का लाभ और सेवा महान दुर्लभ है। ये सब चीज़ें अत्यन्त दुर्लभ हैं। इन सबको जो प्राप्त कर शिवलक्ष्मीरूप जो बोधि है, उसे सिद्ध करते हैं, उन्हीं का जन्म सफल है। इन सब साधनों को प्राप्त होकर भी

जो मोक्षसाधना में प्रमाद करते हैं, वे मूर्ख संसाररूप वन में ही सदा रुलते और भ्रमते रहते हैं। यदि मैं इस स्यालनीकृत उपसर्ग से रंचमात्र भी विचलित हो गया तो मेरा संसार और भी दीर्घ होकर बढ़ जाएगा। इसी विचार से सुकुमाल मुनिराज उस घोर उपसर्ग में भी निश्चल ही रहे। अन्य भव्य जीवों का भी कर्तव्य है कि मनुष्यभव तथा सम्यग्दर्शनादि मोक्षसाधक समस्त योग्य सामग्री को प्राप्त कर स्वात्मानुभवरूप तप, संयमादि द्वारा निर्वाण की साधना करें। इस प्रकार परम ध्यानी महामुनिराज श्री सुकुमालस्वामी ने बोधिदुर्लभ भावना का चिन्तन किया।

अपार संसार के दु:खों से निकालकर जो प्राणियों को आदर्श श्रेष्ठ शिवसुख में धर दे, उसी का नाम धर्म है। इस धर्म के उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य —ऐसे दश भेद हैं। धर्म के ये दश ही कारण भी हैं। इन क्षमादि दश लक्षणों से ही मोक्षदायक आदर्श धर्म होता है। यही धर्म संयमियों द्वारा मान्य है। तीन लोक में जो भी कोई सुन्दर द्रव्य और इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है, वह सब धर्म जनित है। समस्त प्रकार की विभूतियों, पदों और सुखों की प्राप्ति ध्र्मा का ही फल प्रसाद है। यदि इस परीषह में मेरा हृदय क्षमा को छोड़कर रंचमात्र विकार को भी प्राप्त हो जाता है तो मेरे क्षमा धर्म कहाँ रहा ? यह विचारकर श्री सुकुमाल महाराज ने उन स्यालनियों पर क्षमा करते हुए रंचमात्र भी क्रोध नहीं किया और निज क्षमास्वभावी आत्मा में चित्त को एकाग्र किया। बुद्धिमान लोगों का कर्तव्य है कि इस प्रकार धर्म के फल को जानकर उत्तम क्षमादि दशविध लक्षणों से एक धर्म की ही

साधना करें। इस प्रकार सुमेरु के समान अचल परमयोगी श्री सुकुमाल स्वामी ने धर्म भावना का चिन्तन किया।

इस प्रकार इन अनित्य, अशरणादि बारह भावनाओं को जो भाते हैं, चिन्तन करते हैं, उनका राग-द्वेषरूपी शत्रु नष्ट हो जाता है और उनके संवेगभाव की वृद्धि होती है। इस प्रकार विचारकर बुद्धिमान पुरुषों का कर्तव्य है कि पाप के नाश के लिये अनन्त गुणों की जननी इन बारह भावनाओं को भावे। इस प्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तन और ध्यान से श्री सुकुमाल स्वामी के हृदय में वैराग्य भाव और भी महान दृढ़तम हो गया। उन्होंने अपनी आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न जानकर निर्विकल्प चित्त से परम धीर वीरता के साथ उत्कृष्ट आत्मध्यान किया। उस अपनी आत्मा के ध्यान से स्यालनी द्वारा दी हुई वेदना को न उन्होंने जाना और न उनको चित्त में खेद ही हुआ। श्री सुकुमाल स्वामी स्यालनी द्वारा दी हुई महान् बाधा और पीड़ा को धीरता और दृढ़ता से जीतकर घोर उपसर्ग में भी चलायमान नहीं हुए और वज्र के समान अभेद्य और अचल ही बने रहे। उस पापिनी स्यालनी ने अपनी पिल्ली के साथ-साथ श्री सुकुमाल स्वामी के दोनों घुटनों तक पाँव खा डाले और दूसरे दिन थोड़ा-थोड़ा करके दोनों जाँघें खा डालीं और तीसरे दिन आधीरात के समय तक अपने बल से पेट को चीर फाड़कर खा डाला। शरीर के अन्दर जो आँतें थीं, उनको भी मुँह से खींचकर धीरे-धीरे खाना प्रारम्भ कर दिया। श्री सुकुमाल स्वामी का उत्तम प्रकार से चारों आराधनाओं का ध्यान करते-करते प्राणान्त का समय आ गया और धर्मध्यान तथा समाधिपूर्वक यत्न से श्री सुकुमाल स्वामी ने अपने प्राण विसर्जित किये। अपनी महान योग

शक्ति से बहुत पापकर्मों को नष्ट कर परम पुण्य के बल से मुक्तिरानी की सखीस्वरूप, मनोहर, सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि को देनेवाली सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्गभूमि श्री सुकुमाल मुनिराज ने प्राप्त किया।

इस प्रकार पुण्य बल से अनुपम विभूति सम्पदा को श्री सुकुमालजी ने भोगकर संसार के भोगों में राग क्षीण हो जाने से विधिपूर्वक जिनदीक्षा ले, पशुओं द्वारा किये हुए घोरातिघोर उपसर्गों को सहन कर सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्गभूमि प्राप्त किया। श्रेष्ठ पुरुषों का भी कर्तव्य है कि अपने कल्याण के लिये वे भी धर्मसाधन और उपसर्ग परीषहों के जीतने में धैर्य-धारण करें।

बहिरंग अन्तरंग इस प्रकार समस्त प्रकार के परिग्रह के रहित हो, श्रेष्ठमार्ग के सन्मुख हो जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन करते हैं, वे संसार-समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। वे ही धीर-वीर समस्त परीषहों पर विजय प्राप्त कर तीन लोक में पूजित हो जाते हैं, उन सुकुमाल स्वामी आदि समस्त मुनिराजों का मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन चन्दन करता हूँ।

नवम सर्ग

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय; इस प्रकार इन चार घातिकर्मों के घाती श्री अरहन्त भगवान, आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवान तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के धारक सम्पूर्ण साधुओं को, जो मंगलकारी हैं, मैं नमस्कार करता हूँ।

घोर उपसर्गों के जीतनेवाले सुकुमाल स्वामी के माहात्म्य से स्वर्गलोक में देवों और इन्द्र के आसन कम्पायमान हो गये। जब इन्द्र और देवों ने उस महामुनि सुकुमाल का कालज्ञान किया तो आश्चर्य सहित हो हर्षपूर्वक उनकी स्तुति करने लगे। अहो! गुणों की खान, धीर-वीर, तीन लोक से वन्दनीय, ज्ञानी, भव्य जीवों में अग्रसर, पूजनीय श्री सुकुमाल स्वामी महामुनि महान धैर्यशाली हैं, जिन्होंने इतने कोमल शरीर होते हुए भी इतना कठिन और घोर उपसर्ग सहन किया। इस प्रकार उस धीर-वीर की स्तुति कर स्त्रियों तथा वाहनों तथा अपने देवों सहित इन्द्र श्री सुकुमाल स्वामी की पूजा के लिये आये। जिस समय देव और इन्द्र आये, देव दुंदुभियाँ बजीं, जय जय नन्द नन्द आदि शब्दों से आकाश गुंजायमान हो गया। इस प्रकार बड़े हर्ष के साथ वे पृथ्वीतल पर आये। इन्द्रों ने आकर महाविभूति और भक्ति से दिव्य सामग्री द्वारा श्री सुकुमाल स्वामी के शरीर की पूजा की, जब देवों तथा इन्द्रों द्वारा जय-जय आदि शब्द और नाना प्रकार के वादित्रों के शब्द सुने, तब सुकुमाल स्वामी की माता यशोभद्रा तथा बन्धुओं आदि ने यह जाना कि यह उस सुकुमाल योगिराज ने तप ग्रहण करके समाधिमरण किया और सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की—वे माता आदि जो सुकुमाल स्वामी के

वियोग से आर्तध्यान और रुदन कर रहे थे, उसे छोड़ आनन्दपूर्वक उन सुकुमाल स्वामी की स्तुति करने लगे।

अहो, यह सुकुमाल अत्यन्त धर्मात्मा था, जिसने ऐसी-ऐसी सम्पदायें भोगीं और अचानक ही इस प्रकार के तप को ग्रहण कर लिया तथा वन में महान घोर उपसर्ग तीन दिन तक सहन कर उस पर विजय पा सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्गधाम प्राप्त किया। इस प्रकार स्तुति कर समस्त नगरवासी सज्जन पुरुषों को बुलाया और सुकुमाल स्वामी की माता यशोभद्रा उस वन में पहुँची, जहाँ उनका समाधिमरण हुआ था—राजा आदि भी वहाँ पहुँच गये। माता यशोभद्रा श्री सुकुमालजी के आधे खाये हुए शरीर को देखकर अन्तरंग में शोक से व्याकुल हो वे दु:ख से विह्वल हो हलन-चलन रहित मूर्च्छित हो गयी। श्री सुकुमालजी के शरीर को देखने पर समस्त प्रियजन और भाईबन्धु आदि दु:ख से हा हा कार करते हुए रोने लगे। सुकुमाल स्वामी के धीरज को देखकर समस्त नगर निवासी तथा राजा आदि हृदय में महान आश्चर्य करते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे। श्री सुकुमालजी की माता यशोभद्रा को जब चेतना हुई तो उसने अपने विवेक से शोक को दूर कर श्रेष्ठ वचनों द्वारा समस्त बन्धुजनों को आश्वासन देकर कहने लगी—संसार में ऐसे भी महान सत्पुरुष हैं, जो ऐसे उत्कृष्ट भोगों को लात मारकर तपस्या में लीन होते हैं और उस तपस्या में घोर उपसर्गों को सहन करते हुए समाधिमरण कर सर्वार्थसिद्धि जैसे महान सुख के स्थान के सुखों को भोगते हैं। ऐसी प्राणी धन्य हैं।

इस प्रकार यशोभद्रा सेठानी ने श्री सुकुमाल स्वामी की स्तुति कर श्री सुकुमाल स्वामी के शरीर का अन्तिम संस्कार किया और

राजा तथा बन्धुजनादि के साथ उस जिनालय को गयी, जहाँ वे यशोभद्र मुनि महाराज विराजमान थे। जिनालय में स्थित मुनि महाराज के दर्शन कर वह कुछ हृदय में हँसी और जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं को नमस्कार कर पूजा करती हुई हर्षपूर्वक मुनि महाराज श्री यशोभद्र स्वामी से पूछा कि—स्वामिन्! श्री सुकुमाल पर जो मेरा इतना अधिक स्नेह था, इसका क्या कारण है, सो कृपा करके मुझे बतलाइये।

इस प्रश्न को सुनकर श्री यशोभद्र मुनिराज ने सबकी मनुष्य भव से लेकर अच्युतस्वर्ग तक जाने की तथा फिर मनुष्य पर्याय धारण करने आदि की समस्त पुरानी कथा अपने महान ज्ञान से कही—जो इस प्रकार है—जो पहले नागशर्मा नामक ब्राह्मण था, वह धर्म के प्रसाद से अच्युत स्वर्ग में जाकर और वहाँ से आकर सुरेन्द्रदत्त नामक सेठ हुआ, जो महान धर्मात्मा, महान धनी और संसार से विरक्त हो गया। सुरेन्द्रदत्त के पिता का नाम इन्द्रदत्त और माता का नाम गुणवती था। इन दोनों के यह सुरेन्द्रदत्त श्रेष्ठ पुत्र हुआ था-जो तुम्हारा पति था। जो चन्द्रवाहन राजा था—वह तो तपोबल से आरण स्वर्ग में देव हुआ—और आरण स्वर्ग से आकर मैं यशोभद्र नामक ऐसा जो तुम्हारे समक्ष हूँ—हुआ हूँ। मेरे पिता का नाम सर्वयश और माता का नाम यशोमती था—मैं बाल्यकाल से संसार के विषयभोगों से उदासीन रहा और मुझमें आश्चर्यकारक विरक्त बुद्धि थी; इसलिए मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली और तपोबल से मुझे अवधिज्ञान—मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गये। जो त्रिदेवी ब्राह्मणी थी, वह तपोबल से अच्युत स्वर्ग में चली गयी। वहाँ से आकर तू यशोभद्रा हो गयी—जो मेरी बहन थी, जो सम्यग्दर्शन के अभाव से

अपने पुत्र सुकुमाल में तेरा महान स्नेह और मोह था। नागश्री का जीव अच्युत स्वर्ग में पद्मनाभदेव हो गया था, जो वहाँ से आकर तेरा पुत्र जगत् विख्यात महान पुण्यशाली परम धर्मात्मा सुकुमाल हुआ। जो सुबल राजा था, वह तपोबल से आरण स्वर्ग में गया था सो वहाँ से आकर यह वृषभांक राजा हुआ है। जो अतिबल राजा था, वह तपोबल से आरण स्वर्ग में गया और वहाँ से आकर इसी राजा वृषभांक के कनकध्वज नामक पुत्र हुआ है।

इस प्रकार श्री यशोभद्र योगिराज के मुखरूप चन्द्रमा से निकले हुए श्रेष्ठ वचनरूपी अमृत को पीकर मोहरूपी विष को श्री सुकुमाल की माता यशोभद्रा ने वृषभांक राजा आदि के साथ ही उगल दिया और संसार की लक्ष्मी तथा गृह कुटुम्बादि से महान संवेग धारण कर अपनी मोह की निन्दा करती हुई यशोभद्रा भी तप ग्रहण करने को तैयार हो गयी और सुकुमालजी की बत्तीस स्त्रियों में से जो चार स्त्रियाँ गर्भवती थीं, उनको अपनी गृह सम्पदा देकर बाकी 28 सुकुमालजी की स्त्रियों तथा बहुत बन्धुओं के साथ अन्तरंग -बहिरंग परिग्रह का त्याग कर मुक्ति के निमित्त दीक्षा ग्रहण कर ली। श्री वृषभांक राजा ने भी श्री यशोभद्र मुनि महाराज से अपनी समस्त भवावली को सुनकर संसार के विषय भोगों से विरक्त हो अपने छोटे पुत्र को राज्य का भार सौंप अपने पुत्र कनकध्वज तथा अनेक राजपुत्रों के साथ समस्त सम्पदा का त्याग कर दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह को छोड़ मुक्ति की मातास्वरूप जिनदीक्षा को मन-वचन-काय की विशुद्धि से धारण कर लिया।

इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने के बाद वे सब तत्त्ववेत्ता परम

तपश्चरण के साथ-साथ श्रुताभ्यास और ध्यान में लवलीन हो गये। वे पर्वतों, निर्जन वनों, नगरों, ग्रामों आदि में विहार करते हुए मोक्ष के मार्ग को तय करने में तत्पर हो गये। चार ज्ञान के धारक यशोभद्र मुनिराज, सुरेन्द्रदत्त योगिराज, महायोगी वृषभांक और योगीश्वर कनकध्वज, ये चारों चरम शरीरी थे, सो शुक्लध्यानरूपी खड्ग से समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को बलपूर्वक नष्ट कर इन्द्रादि द्वारा पूजा संस्कार को प्राप्त हो, सम्यक्त्वादि आठ गुणों को पाकर अनन्त सुख से भरे हुए अनुपम मोक्ष को प्राप्त हुए। शेष जो अन्य मुनिराज थे, वे सब अपने-अपने तपश्चरण के अनुसार सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक योग्य-योग्य पदों को प्राप्त हुए। कितनी ही स्त्रियों ने जो आर्यिका पद धारण किया था, सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त महर्द्धिक देव पद को प्राप्त किया। वे सब महिलाएँ समस्त रूपवती थीं किन्तु तपश्चरण में लवलीन हो गयीं और तपोबल से इन सुखों की प्राप्ति की।

सुकुमाल स्वामी का जीव पुण्य और तप के फल से सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग मे उपपाद शिला के मध्य रत्न के पर्यंक में अहमिन्द्र हुआ, जिसने अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण नवयौवन को प्राप्त किया। दिव्य आभूषण, उत्तमोत्तम दिव्य वस्त्र, दिव्य माला, और अद्भुत कान्ति से विभूषित हो गया। वह महर्धिक अहमिन्द्र शय्यातल से उठकर पुण्य की मूर्तियाँ अन्य अहमिन्द्रों को अपने नेत्रों से देख अवधिज्ञान के प्रभाव से यह जान लिया कि यह सब महान तप का फल है। अवधिज्ञान से अपनी समस्त पुरानी भवावलि का भी उनको ज्ञान हो गया। उस सुकुमाल स्वामी के जीव अहमिन्द्र ने निश्चय किया कि यह सब धर्म का फल है, इसलिए धर्म में

उन्होंने अपनी निष्ठा और भी दृढ़ कर ली और सबसे पहले उस अत्यन्त पुण्यवान अहमिन्द्रदेव ने धर्म की सिद्धि और वृद्धि के लिये रत्नमयी ऊँचे जिनालयों में जाकर महान तेजोमयी जिनबिम्बों की अष्टविध द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की। भगवान की उत्तमोत्तम गुणपूर्ण स्तोत्रों से स्तुति की—दिव्य पूजाद्रव्य चढ़ाये। इस प्रकार अन्य अहमिन्द्रों के साथ उस पुण्यवान चतुर अहमिन्द्र ने परम पुण्य का उपार्जन किया। इस प्रकार सबसे पहले जिनेन्द्र देवाधिदेव की पूजा करके उसने अपना स्थान और पूर्व पुण्य के प्रताप से उपार्जित उत्तमविमानादि समस्त सम्पदाएँ स्वीकार कीं। सुकुमाल स्वामी का जीव यह महर्धिक अहमिन्द्र अपने स्थान पर रहता हुआ भी समस्त तीन लोकवर्ती जिन प्रतिमाओं, जिनमंदिरों को अपने अवधिज्ञान से जानकर नमस्कार करता रहता था। जब-जब भगवान के गर्भ-जन्मादि कल्याणक होते थे, तब-तब अपने स्थान पर रहता हुआ भी सदैव भगवान को नमस्कार करके स्तुति और भक्ति करता रहता था। जब केवली भगवान को केवलज्ञान तथा निर्वाण की प्राप्ति होती थी, तब-तब यह उनकी सदैव नमस्कार पूर्वक स्तुति भक्ति करता था। कितने ही अहमिन्द्र तो बिना बुलाये ही आ जाते थे और कितने ही बुलाने पर—उन सबके साथ यह महर्धिक देव सदैव धर्मचर्चा करता रहता था। इस प्रकार सुकुमाल स्वामी का जीव यह महर्धिक देव सर्वार्थसिद्धि में पुण्यबल से प्रवीचार रहित परम सुख भोगता था। स्फटिक रत्नमयी महलों में, विमान में, पर्वतों और वनों में अन्य अहमिन्द्रों के साथ अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करता रहता था। उसके स्वभाव से ही सुन्दर अपने विशद रमणीक स्थान में जैसी प्रीति होती थी, वैसी दूसरी जगह कहीं भी नहीं होती थी। क्योंकि स्वर्गालय के समान और सुन्दर स्थान ही

दूसरा कौन है ? इसीलिए अहमिन्द्रदेव अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र दूसरे स्थान पर कहीं भी नहीं जाते। वहाँ जितने भी अहमिन्द्र होते हैं, उन सबके समान विभूति, ऋद्धि और सम्पदा होती है। वहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सभी का मान और पद समान होता है। उनके लेश्या, ज्ञान, महासौख्य और भोगोपभोग सम्पदाएँ समान होती हैं। उन सब अहमिन्द्रों में परस्पर स्नेह होता है, उन सभी के रागभाव मन्द होता है, ध्यान सदैव उनके शुभ ही रहता है। ईर्ष्या, मद और विकारभावों से रहित और स्वच्छ हृदय के धारी महान निपुण होते हैं। समान धर्म के फल से उन सबका रूप भी समान ही होता है। 'अहं इन्द्रः !' इस शब्द का अर्थ है कि 'मैं इन्द्र हूँ'। इसी प्रकार समस्त महर्धिक देव वहाँ 'अहमिन्द्र' अर्थात् 'मैं इन्द्र हूँ'—मुझसे दूसरा कोई इन्द्र नहीं है; इस प्रकार सभी अपने मन में महान सुख का अनुभव करते हुए अपनी उन्नति का प्रमाण लगाते हैं। स्वर्गों में जो-जो देवांगनाओं के सम्बन्ध से सुख होता है, उससे असंख्यगुणा बाधा तथा उपमारहित, कामज्वर से रहित अहमिन्द्रों को पद-पद पर होता रहता है। अहमिन्द्रों को आत्मजनित और प्रवीचार रहित सुख होता है। तीन लोक में पुण्य के प्रताप से जो और जितना सर्वोत्कृष्ट सुख होता है, वह सब अहमिन्द्रों को प्राप्त हो जाता है, उस सुख में दुःख का लेश भी नहीं है। इस प्रकार समस्त दिव्य लक्षणों से युक्त वह सुकुमाल स्वामी का जीव अत्यन्त धर्मात्मा और उत्कृष्ट सुखों में मग्न अहमिन्द्र तेतीस सागर तक अहमिन्द्र पद के सुखों को भोगता रहा। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने के बाद सम्पूर्ण शरीर को आनन्ददायक दिव्य आहार वह करता था जो केवल मानसिक और अमृतमय होता था। तेतीस पक्ष (पन्द्रह दिन का एक पक्ष) बीत जाने पर उनके श्वास आता था। उसी

समय वह अहमिन्द्र सम्पूर्ण तीन लोकवर्ती मूर्तिमान पदार्थों को अपने अवधिज्ञान से जान लेता था, अपनी अवधि के क्षेत्र तक अहमिन्द्रों के विक्रियाऋद्धि होती है। अहमिन्द्रों के उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है और वे सदैव धर्मध्यान में ही तत्पर रहते हैं। उनका शरीर सप्त धातु, मल-पसीना आदि शारीरिक मलों से रहित होता है—एक हाथ ऊँचा उनका शरीर होता है। नेत्र वे टिमकारते नहीं। अब वह सुकुमाल स्वामी का जीव महर्धिक अहमिन्द्र वहाँ से यहाँ आकर श्रेष्ठ कुल में मनुष्य जन्म लेकर तप और रत्नत्रय के आचरण से अवश्यमेव मोक्ष जावेगा। वह सुख के समुद्र में मग्न, अनिष्टसंयोग, और इष्टवियोग से रहित समस्त सुखों से युक्त सर्वार्थसिद्धि में विराजमान है।

इस प्रकार तप चारित्र के प्रभाव से अनुपम सुखों से पूर्ण, दुःख नाम से भी रहित, समस्त विकारों से रहित सुखों को वह अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि में भोग रहा है। बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे भी सुख की प्राप्ति के लिये आचरण शुद्धिरूप धर्म की साधना करें। चारित्र ही अनन्त गुणों का देनेवाला है। चारित्र का ही योगिजन आश्रय लेते हैं, चारित्र से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए चारित्र को नमस्कार है। चारित्र के अतिरिक्त कल्याण का करनेवाला अन्य कोई नहीं है। चारित्र का मूल है उत्तम कृति, इसलिए मैं चारित्र में ही अपना चित्त लगाता हूँ और भावना करता हूँ कि—हे चारित्र! मेरे तू पूर्ण हो।

धर्म से श्री सुकुमालजी ने अत्यन्त उत्तम विभूति और अत्यंत रूप लक्ष्मी प्राप्त की। धर्म से ही अद्‌भुत संयम प्राप्त किया और अपना धर्म समझकर ही घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त की। धर्म से

ही मुक्ति की दूसरे भव में ही देनेवाली अनुपम सर्वार्थसिद्धि का लाभ हुआ। इसलिए हे बुद्धिमान पुरुषों! सदैव यत्नपूर्वक धर्म साधन करते रहो।

धर्म के बिना यहाँ ऐसी सम्पदाएँ कैसे प्राप्त हों? धर्म के बिना इन्द्रियजनित महान सुख भी कैसे मिले? धर्म के बिना समस्त लोक की सारभूत वस्तुएँ कैसे मिलें? धर्म के बिना आश्चर्यकारक विश्व की मान्यता कैसे प्राप्त हो? धर्म के बिना अत्यन्त सुन्दर नारियाँ कैसे प्राप्त हों? धर्म के बिना मनोवांछित कार्यों की सिद्धि कैसे हो? धर्म के बिना आत्मा और मन की विशुद्धि कैसे हो? धर्म के बिना शास्त्रज्ञान भी कैसे हो? धर्म के बिना उत्तम धर्म का लाभ भी कैसे हो? धर्म के बिना उत्तम संयम की प्राप्ति कैसे हो? धर्म के बिना शत्रुओं पर विजय लाभ कैसे हो? धर्म के बिना उत्तम-उत्तम पद कैसे मिलें? यह जानकर भो विद्वज्जनों! संसार दु:खों का घात करनेवाले, सम्पूर्ण अर्थ की सिद्धियों को देनेवाले परमार्थभूत अतुल जिनधर्म की साधना करो।

❀ अन्तिम प्रशस्ति ❀

सुकुमार (सुकुमाल) नामक अत्यन्त धीर-वीर महान मुनिराज हुए हैं। मैंने उनका यह चरित्र क्या बनाया है किन्तु चरित्र की रचना के भाव से उनकी वन्दना और स्तुति ही मैंने की है। वे श्री सुकुमाल मुनिराज, सम्पूर्ण उपद्रवों के करनेवाले ज्ञानावरणादि चार घाती कर्मरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में अद्‌भुत शक्ति देवें, मेरे कर्मों का नाश करें, मुझे समाधिमरण की शक्ति दें और अपने समस्त गुण मुझे भी प्रदान करें।

मुझ भट्टारक सकलकीर्ति आचार्य द्वारा इस सुकुमाल चरित्र की जो रचना हुई है, उसे सम्पूर्ण दोषों से रहित ज्ञानीजन और यतीन्द्र कोई अशुद्धि रह गयी हो तो उसे शुद्ध कर लें क्योंकि मैं थोड़े से शास्त्र का ही जाननेवाला हूँ। अक्षर, स्वर, व्यंजन, मात्रा तथा पद आदि की मन-वचन-काय के योग के चलायमान हो जाने से भूल हो गई हो तो हे जिनवाणी! मुझे क्षमा करना।

जो मुनि यह चरित्र पढ़ते हैं, जो वीतरागता से पूर्ण, सुख की खान हैं, वे शिव लाभ करते हैं। जो इस चरित्र को सुनते हैं, वे सम्पूर्ण रागभाव को नष्ट कर वैराग्य और सुन्दर धर्म का लाभ करते हैं, क्योंकि यह शास्त्र धर्म का बीजभूत है।

भगवान आदिनाथ से महावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थंकर; गुण -गुणों के निधि, तीन लोक के शिखर पर विराजमान, कर्मरहित, अनन्त सुख के सागर महान परमपद के भागी श्री सिद्ध परमेष्ठी; सम्पूर्ण मुनिराजों और संघ के हितु मुक्ति के इच्छुक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी मेरे तथा अन्य सबके मंगल करें। मैं उनकी वन्दना और स्तुति करता हूँ। निर्मल गुणों का निधान, तीन लोक में दीपक के समान, इन्द्रियाँ तथा पापरूपी शत्रुओं को नष्ट करने को शस्त्र के समान, सर्वोत्कृष्ट सुखवाले मोक्ष का मूल, निर्ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचित यह पवित्र ज्ञानतीर्थ सदैव पृथ्वी पर जयवन्त रहो। इस सुकुमाल चरित्र के समस्त श्लोकों को एकत्रित करने पर उनकी संख्या ग्यारह सौ होती है, ऐसा जानें।

❀ समाप्त ❀